Vol. 8
No. 15
DP-16

वैदिक वाग् ज्योतिः सम्पादक - दिनेशचन्द्र शास्त्री UGC CARE LISTED

UGC CARE LISTED
(Arts & Humanities)
ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
DP-16

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./ वर्ष-8 July-December 2020 No./ अंक 15

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेदविभाग

गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Deemed to be University
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
January-June 2020

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Satyapal Singh, Chancellor, GKV, Haridwar
Prof. Roop Kishor Shastri,
Vice-Chancellor, GKV, Haridwar

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Head, Dept. of Veda, GKV,
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Advisory Board

Prof. Nicholas Kazanas, Athens (Greece)
Prof. Balram Singh, USA
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, "President Awardee" Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Suneel Joshi, Haridwar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Upendra Kumar Tripathi, Varanasi
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamalesh Chaukashi, Ahamedabad
Prof. Renubala, Amritsar
Dr. Nagendra K. Neeraj, Haridwar
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. R.C. Dubey, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, USA
Dr. Anju Kumari
Dr. R.G. Murli Krishna, Delhi
Dr. Udham Singh

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna,
V.C., Patanjali University
Prof. Devi Prasad Tripathi,
V.C., U.S. University

Departmental Advisory Board

Prof. Manudev Bandhu

Reviewers

Acharya Balveer, Rohtak
Dr. S.P. Singh, Delhi

Finance Advisor

Sh. R.K. Mishra, F.O.
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

Department of Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 200.00 Annual, US $ 20,
Single Copy: Rs. 100.00
Rs. 1000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Dinesh Bhatt
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

UGC CARE listed (Arts & Humanities)
ISSN : 2277-4351
RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष-8 **July–December 2020** **No./अंक 15**

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Deemed to be University
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

अश्विंना परिं वामिषः पुरूचीरींयुर्गीर्भिर्यतंमाना अमृंध्राः।
रथों ह वामृतजा अद्रिंजूतः परि द्यावांपृथिवी यांति सद्यः।

–ऋग्वेद 3.58.8

पदार्थः–(अश्विना) सकलविद्याव्याप्तौ (परि) सर्वतः (वाम्) युवाम् (इषः) इच्छासिद्धीः (पुरूचीः) पुरूणि सुखान्यञ्चन्तीः (ईयुः) प्राप्नुयुः (गीर्भिः) वाग्भिः (यतमानाः) (अमृध्राः) अध्यापकोपदेशकाः (रथः) (ह) किल (वाम्) युवयोः (ऋतजाः) ऋतात्सत्याज्जातः (अद्रिजूतः) योऽद्रौ मेघे जवति सद्यो गच्छति (परि) सर्वतः (द्यावापृथिवी) भूमिप्रकाशौ (याति) गच्छति (सद्यः) शीघ्रम्।।

अन्वयः–हे अश्विना यदि वामृतजा अद्रिजूतो रथो द्यावापृथिवी सद्यः परियाति तर्हि तेन वां ह गीर्भिरमृध्रा यतमाना अध्यापकोपदेशका इव पुरूचीरिष परीयुः।

भावार्थ–ये विमानादियानाद्यग्न्यादिभिर्निर्मिमते तेऽभीष्टानि सुखानि प्राप्य यत्रेच्छा तत्र सद्यो गन्तुं शक्नुवन्ति।

पदार्थ–हे (अश्विना) सम्पूर्ण विद्याओं में व्याप्त रमते हुए यदि (वाम्) आप दोनों को (ऋतजाः) सत्य से उत्पन्न (अद्रिजूतः) मेघ में शीघ्र जानेवाला (रथः) वाहन (द्यावापृथिवी) भूमि और प्रकाश को (सद्यः) शीघ्र (परि, याति) सब ओर पहुँचाता है तो उससे (वाम्) आप दोनों को (ह) निश्चय कर (गीर्भिः) वाणियों से जैसे (अमृध्राः) अध्यापक और उपदेशक (यतमानाः) प्रयत्न करते प्राप्त हों वैसे (पुरूचीः) सुखों को पहुंचानेवाली (इषः) इच्छासिद्धियों को (परि, ईयुः) सब ओर प्राप्त होवै।

भावार्थः–जो लोग विमान आदि यानों को अग्नि आदि से रचते हैं वे अभीष्ट सुखों को प्राप्त होकर जहाँ इच्छा हो शीघ्र जा सकते हैं।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

Editorial - *vii*
सामवेद से सम्बद्ध भ्रान्तियां और उनका निराकरण
(Dispelling Misconceptions about the Sāmaveda)

कोविदीयम्

1. **सौत्रामण्यां सुरापानम्** 1
–रामनाथः वेदालङ्कार

2. **एकं वेदस्यासमाधेयस्थलम्** 4
–म.म. वेदाचार्य आचार्य विश्वश्रवाः व्यास

3. **वैदिक-दर्शनम्** –म.म.डॉ. गोपालशास्त्री 'दर्शनकेसरी' 11

हिन्दी संभाग

4. **ब्रह्मा और सरस्वती** –अरुण उपाध्याय 20

5. **आरण्यक वाङ्मय में प्राणतत्त्व एक विमर्श** 38
–देव प्रकाश

6. **वेदार्थ प्रक्रिया में स्वरों का महत्व : एक अध्ययन** 49
–चन्द्रगुप्त

7. **वैदिक संहिताओं में साम का स्वरूप** 61
–डॉ. सन्दीप

8. **वैदिककालीन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप** 66
–डॉ. अनुज कुमार

9. **यज्ञ में मन्त्रों से आहुति क्यों?** 76
–शिवदेव आर्य

10. **वैदिक वाङ्मय में योग विद्या के तत्वों का निरूपण** 81
–डॉ. अनुजा रावत

संस्कृत-संभागः

11. **शतपथब्राह्मणे सम्वत्सरः : एकः समीक्षात्मको विमर्शः** 88
–डॉ. प्रतापचन्द्ररायः

12. **वैदिकवाङ्मये वाक्यार्थतत्त्वविमर्शः** 96
–राम किशोरः

13. **सत्यार्थप्रकाशानुसारं मोक्षोपायाः** 105
–डॉ. देवीसिंहः

English Section

14. **A Comparative Study of the Verbal Roots of Persian and Sanskrit** 109
--J.L. Kamboj

15. **The Journey of Vedic Words through the Ages in Indo-Iranian Regions** 130
-R.C. Bhardwaj

16. **Vedic *Prajā*-System for the Transformational Leadership in Modern Times** 141
-Dr. Aparna (Dhir) Khandelwal &
-Prof. Bal Ram Singh

17. **Equanimity Yoga** 149
-Dr. Arun Kumar Manav

✦✦✦

सम्पादकीय

सामवेद से सम्बद्ध भ्रान्तियां और उनका निराकरण

(Dispelling Misconceptions about the Sāmaveda)

श्रीमद्भगवद्गीता और महाभारत के पढने से ज्ञात होता है कि सामवेद का महत्त्व अन्य वेदों की अपेक्षा से अधिक है। क्योंकि ***वेदानां सामवेदोऽस्मि*** (गीता10/22) तथा ***सामवेदश्च वेदानाम्*** (महा. अनु. पर्व 14/317) इत्यादि प्रमाण इसी तात्पर्य को प्रकट कर रहे हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने अपने को वेदों में सामवेद बतलाया है। महाभारत के प्रमाण से भी यही भाव सिद्ध होता है।

यद्यपि केवल वेद नाम से तो चारों वेदों की महत्ता और श्रेष्ठता निर्विरोध सिद्ध है। तथापि जब इनका पृथक् नाम आता हो, और इस प्रसंग में उनमें श्रेष्ठता या महत्ता की झलक दीखती हो तो स्वभावत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इनमें उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद भी है? यदि ये भेद नहीं है तो इस सामवेद की विशेषता क्या है जिससे ऐसे अवसरों पर यह बाजी मार ले जाता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं अत: इस दिशा में यहां थोडा विचार उपस्थित करना उपयुक्त होगा।

वैदिक परम्परा में चारों वेदों के क्रमश: चार विषय ऋग्वेद का ज्ञान, यजुर्वेद का कर्म, सामवेद का उपासना, और अथर्ववेद का विज्ञान बतलाये गये हैं।[1]

1. उपरोक्त परम्पराप्राप्त- विषयक्रम के देखने से और विचार करने से ज्ञात होता है कि कोई भी ज्ञान, विज्ञान, अथवा सकाम या निष्काम कर्म किसी न किसी उद्देश्य के साधन मात्र हैं। जब ये साधन हैं तो इसी प्रकरण में इनका कोई साध्य अवश्य होना चाहिए और वह उपासना के अतिरिक्त कोई अन्य चीज नहीं हो सकती। हम देखते हैं कि संसार की छोटी-छोटी नदियां जैसे समुद्र में गिरकर समुद्र के आकार में महत्ता प्राप्त कर लेती हैं, इसी प्रकार सारे ज्ञान, विज्ञान, और सकाम या

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, रामलाल कपूर ट्रस्ट, चतुर्थ संस्करण, संवत् 2067 - *अत्र चत्वारो वेदविषया: सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात् (वेदविषय-विचार:) ऋग्वेदे ज्ञानकाण्डम्, यजुर्वेदे कर्मकाण्डम्, सामवेद उपासनाकाण्डम्, अथर्ववेदे च विज्ञानकाण्डमस्तीति (प्रतिज्ञाविषय:और प्रश्नोत्तरविषय:)*

निष्काम कर्म उपासना में आकर सफल सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार जिस साध्य के लिए ही ये सारे साधन एक स्वर से सिद्ध होते हों उसकी श्रेष्ठता में किस को सन्देह हो सकता है।

2. यदि सामवेद का उपासना विषय है तो यह ऐसा महान्, गहन, सरस और आवश्यक विषय है जिसके बिना मनुष्य जीवन ही नीरस तथा निकम्मा सिद्ध हो जाता है। इस विषय का आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध है, और वह भी कुछ सामान्य कार्य की सिद्धि के लिए नहीं किन्तु पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए भी यही एक मात्र स्वस्ति पन्था है। यही बात वेदों शास्त्रों उपनिषदों एवं यत्र तत्र सर्वत्र पायी जाती है।

उपासना और गान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल से सब मानते आये हैं। केवल मानते ही नहीं आये हैं अपितु व्यवहार में भी उपासना में गान का प्रयोग करते आये हैं। इसीलिए सामान्य रीति से चारों वेद गानमय हैं, और विशेष रीति से सामवेद गानविद्या की खान और उसका उद्गम स्थान है यह बात आज भी मानी जाती है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

जब हम इस बात की तह में जाकर विचार करते हैं तो ऐसा लगता कि गान विद्या एक ऐसी मनोमोहिनी विद्या है कि जो झट से अन्तस्तल को स्पर्श कर हृत्तन्त्री को हिला देती है जिससे उसके आनन्द में विभोर होकर मनुष्य थोडी देर के लिए अपने को भी भुला देता है। उपासना में भक्त का भगवान् के साथ यही भाव अत्यन्त आवश्यक भी है। उपास्य और उपासक को इस द्वैत भाव की स्पष्ट रेखा दिखाई दे तभी यह अवस्था मनुष्य को प्राप्त हो सकती है। तब भक्त भगवान् से कैसी मीठी-2 बातें करता है इस बात के प्रमाण में भक्तों की सेवा में ऋग्वेद का एक मन्त्र उपस्थित कर यह विषय और स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वह यह है-

यद॑ग्ने॒ स्याम॒हं त्वं त्वं वा॑ घा॒ स्या अ॒हम्। स्युष्टे॑ स॒त्या इ॒हाशिष॑ः।[1]

भक्त कहता है कि हे मेरे प्यारे भगवान्! मैं तू हो जाऊं अथवा तू मैं हो जा तो तेरे सारे आशीर्वाद हमारे लिए सच्चे सिद्ध हो जाएं। अतः कहां तक पहुंचकर भक्त भगवान् में अपने को लीन करने का उपाय कर सकता है यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। अत एव पं. विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने अपने सामवेद आध्यात्मिक भाष्य की भूमिका (लेखक की ओर से!) में लिखा है- सामवेद गीतिप्रधान वेद है। सामगानों द्वारा, उपासक में, सामवेद की भावनाओं को प्रतिष्ठित किया गया है। संगीत का जीवन में बडा महत्त्व है। गद्य भाषणों द्वारा श्रोताओं पर उतना प्रभाव नहीं पडता

---

1. 8/44/23

जितना कि संगीत द्वारा पडता है। भक्तिमय सात्त्विक गानों द्वारा चित्त की सात्त्विक वृत्तियों को जागृत कर, उनमें एकतानता बनी रहती है अर्थात्, चित्त की सात्त्विक वृत्ति धारारूप में प्रवाहित होती रहती है, जिससे सात्त्विक चित्तवृत्ति प्रवाह में, राजसिक और तामसिक चित्तवृत्तियों का अनुप्रवेश नहीं होने पाता। जैसे निःस्तब्ध जलाशय में जलपृष्ठ की समता होती है, उसी प्रकार संगीत द्वारा चित्तवृत्ति में समता बनी रहती है। इस समता की दृष्टि से सम्भवतः सामवेद को सामवेद कहा गया है।[1]

अभिप्राय यह कि यह तो किसी भक्त के ही अथवा सहृदय के ही समझने की बात है। गान का उपासना के साथ इतना घना सम्बन्ध होने के नाते ही सम्भवतः प्राचीन काल के ऋषियों ने इसी वेद के मूल मन्त्रों से नाना प्रकार के गान, भिन्न-2 समयों अथवा कर्मों के लिए बनाये थे जो आज भी ग्रन्थ के रूप में प्राप्त होते हैं। वे गान, एक मन्त्र के अनेक प्रकार क्या सहस्र प्रकार के होते थे। सामवेद के उत्तरार्चिक में एक मन्त्र आता है कि **युञ्जे वाचं शतपदीं, गाये सहस्त्रवर्तनि**[2] अर्थात् सौ पदों वाली वाणी को मैं जोडता हूं और सहस्र प्रकार से उसका गान करता हूं। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी महाभाष्य में लिखा है कि **सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः**[3] अर्थात् एक सहस्र मार्ग वाला सामवेद है। उपरोक्त सामवेदीय मन्त्र में **गाये सहस्त्रवर्तनि** इस मन्त्र में आये हुए वर्तनि शब्द का तथा महाभाष्यकार के वर्त्म शब्द का सादृश्य स्पष्ट प्रतीत होता है। दोनों ही शब्द एक अर्थ के प्रतिपादन करने वाले हैं यह निःसन्देह पता चलता है। ऐसी अवस्था में महाभाष्य की उस पंक्ति का यही अर्थ ठीक समझ में आ रहा है कि सामवेद के गाने के सहस्र प्रकार हैं किन्तु कतिपय विद्वान् इसकी दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हैं।[4]

---

1. जनज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली, संवत् 2033
2. मन्त्र सं.1829
3. पातंजल महाभाष्य, पस्पशाह्निक
4. गान का विस्तार सामवेद से प्रारम्भ होता है, अतः सहस्र प्रकार से गाया जाना कोई असम्भव बात नहीं। परन्तु यह बात उन लोगों की खींचातानी और अनभिज्ञता की द्योतक है कि भाष्यकार के वचन का यही तात्पर्य है। मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि भाष्यकार के वचन का यही तात्पर्य है कि सामवेद सहस्र शाखाओं वाला है। **एकशतमध्वर्युशाखाः** इस पूर्वगत वाक्यप्रसंग से ऐसा ही सिद्ध है। ऐसा नहीं हो सकता कि शेष में शाखाऐं कही जावें और सामवेद के गीति के उपाय वहां पर गिना दिये जाएं। यदि यही मान लिया जावे कि सामवेद के सहस्र गीति-उपाय हैं तब भी सहस्र शाखाओं का होना बन सकता है। यह हो सकता है कि भाष्यकार कथित सहस्र-शाखाएं सामवेद के गानभेद के कारण ही बन गई हों। जब गानभेद सकारण है तो शाखाभेद होना भी उसके

सार यह है कि सामवेद, क्योंकि उपासना काण्ड का प्रतिपादन करता है इसलिए अन्य वेदों की अपेक्षा से व्यावहारिक जीवन के साथ अति निकटतम सम्बन्ध होने से विचारकों ने समय-समय पर अपने विचार उस रूप में व्यक्त किये हैं जैसे महाभारत अथवा गीता में प्रकट किये गये हैं।[1]

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शेष अन्य वेद गौण हैं। अपने-अपने विषयों के निरूपण करने के अवसरों पर वे भी मुख्य ही हैं। कर्म के विवेचन में सामवेद कभी नहीं मुख्य हो सकता यजुर्वेद ही उसका सर्वस्व है। ऐसे ही अन्य वेदों के विषय में भी कहा जा सकता है।[2]

3. छान्दोग्य उपनिषद् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस उपनिषद् का सामवेद से सीधा सम्बन्ध है। ईशोपनिषद् का यजुर्वेद से नित्य सम्बन्ध है। ऐसा ही गीता या महाभारतकार उसी गुरु-परम्परा अथवा सम्प्रदाय के हों जिनके प्रवचन या व्यवहार सामवेद के सम्पर्क से ही चलते हों। इस दृष्टि से भी कुछ महत्व प्रकट करना अयुक्त नहीं है। वैसे भी इतिहास से ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के गुरु घोर आंगिरस सामवेद से सम्बन्धित थे।

मीमांसा दर्शन में जैमिनि ऋषि ने साम के स्वरूप का निर्णय करने के लिए लिखा है कि **गीतिषु सामाख्या**[3] अर्थात् गीति का नाम साम है। जब गीति का ही साम नाम है तो संहिता को साम क्यों कहा जाय यह भी एक विचारणीय विषय है।

इस ग्रन्थ का सामवेद नाम इसलिए है कि इसी के मूल मन्त्रों से साम गान उत्पन्न होते हैं। अत एव साम गान के मूल होने से ही संहिता का नाम भी प्रसिद्ध अर्थवाला नाम सामवेद रख लिया गया है।

आधार पर सकारण ही होगा। अतः सामवेद की सहस्त्रशाखाएं हैं यह मानना ही श्रेयस्कर है। इसको स्वीकार कर विद्वानों को इनके अन्वेषण का प्रयत्न करना चाहिए (देखो, आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, सामवेद- संहिता (भाषा-भाष्यसहित), भूमिका,पृ. 51, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, जालन्धर 1966)

1. गीता 10/22, महा. अनु. पर्व 14/317
2. काठकब्राह्मण- *यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जपन्ति।* द्र. *-डॉ. कालण्डेन सम्पादितं काठकब्राह्मणसंकलनत्।* भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर,वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण – आरण्यक भाग, प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976 पृ.269 पर उद्धृत।
3. 2/1/36

सामवेद और ऋग्वेद

पाश्चात्य विद्वानों[1] और उनके अनुगामी अनेक पौरस्त्य[2] अनुसन्धित्सुओं का यह मत है कि सामवेद के अपने मन्त्र बहुत कम हैं। अर्थात् 1875 मन्त्रों में केवल 75 मन्त्र ही सामवेद के हैं, ऐसा मानते हुए कुछ ने 75 मन्त्रों का पृथक् से सामवेद प्रकाशित किया है[3]। कुछ विद्वानों ने 99 मन्त्रात्मक ही सामवेद का स्वरूप मानते हुए उसको प्रकाशित किया है[4]। शेष मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। सामवेद में उनका संग्रह मात्र है। क्योंकि ऋग्वेद में वे मन्त्र तत्तत् स्थानों में पाये जाते हैं।

हम इस बात की परीक्षा करना चाहते हैं कि वास्तविकता क्या है। वे मन्त्र इस वेद के अपने हैं अथवा ऋग्वेद के हैं।

सबसे प्रथम हम ऋग्वेद के कुछ ऐसे मन्त्र प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं जो इस बात की साक्षी देते हैं कि ऋग्वेद के समकाल में सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता वर्तमान है। वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं –

तस्मा॑त् य॒ज्ञात् स॑र्व॒हुत॒ ऋचः॒ सामा॑नि जज्ञिरे (ऋग्. 10/90/9)

यो जा॒गार॒ तमु॒ सामा॑नि यन्ति (ऋग्. 5/44/14)

यज्ञ॒न्यं साम॒गामु॑क्थ॒शास॑म् (ऋग्. 10/107/6)

श्रव॒त्साम॑ गी॒यमा॑नम् (ऋग्. 8/81/5)

यू॒यं ऋषि॑मवथ॒ साम॑विप्रम् (ऋग्. 5/54/14)

अङ्गि॑रस॒ां साम॑भिः स्तू॒यमा॑नाः (ऋग्. 1/107/2)

---

1. In the composition of Sama Samhita, the entire bulk of mantras was borrowed from Rigveda. (Samaveda Samhita, Introduction(p-7) English Translation by R.T.H. Griffith, edited by Ravi Prakash Arya, Parimal Publications, Delhi. 2003
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, नया संसार प्रेस वाराणसी, प्रकाशक- शारदा संस्थान, पंचम संस्करण, पं. शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ, वैदिक इतिहासार्थ निर्णय, भूमिका, सत्यार्थ प्रकाशन कुरुक्षेत्र- *सामवेद में 1549 ही मन्त्र हैं जिनमें से 78 मन्त्रों को छोडकर बाकि सब ऋग्वेद में मिलते हैं। इसलिए सामवेद तो ऋग्वेद के अन्तर्गत ही है।*
3. देखो, स्वामीहरप्रसाद, वेद रहस्य, प्रथम संस्करण, पृ.70; एवं *स्वाध्याय संहिता*, समर्पण शोध संस्थान, साहिबाबाद गाजियाबाद उ.प्र.
4. स्वामी गंगेश्वरानन्द, वामन सामवेद:, सद्गुरु गङ्गेश्वर इण्टरनेशनल वेदमिशन, बम्बई, संवत् 2042

बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्वतु (ऋग्. 10/36/5)

उपर्युक्त उदाहरणों में नीचे लिखे शब्द केवल सामवेद की सत्ता के साधक सिद्ध हो रहे हैं। सामानि, सामानि, सामगाम्, साम, सामभिः और साम इन पदों से यह बात निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध हो जाती है कि ऋग्वेद के समय में ही सामवेद की स्वतन्त्र रूप में कोई बाधा नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु साम विशेषों के भी नाम पाये जाते हैं। जैसे-गायत्रम्, त्रैष्टुभम्, जागतम्, बृहत्, रथन्तरम् इत्यादि। ये विशेष गानों के नाम हैं। इनसे भी उपरोक्त बात ही सिद्ध होती है।

इन प्रमाणों के रहते यह कहने का साहस कोई नहीं कर सकता कि ऋग्वेद के मन्त्रों का ही सामवेद संग्रहमात्र है। साथ ही इस विचार का भी कि विश्व के पुस्तकालय में सबसे प्रथम ऋग्वेद ही है[1] समूल खण्डन हो जाता है। कारण यह है कि जब ऋग्वेद के समय में सामवेद भी वर्तमान ही है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सबसे पहले ऋग्वेद ही है, वरन् सामवेद भी उतना ही प्राचीन है। कुछ विद्वानों ने तो सामवेद और यजुर्वेद को ऋग्वेद से प्राचीन माना है।[2]

हां एक प्रश्न हो सकता है कि मन्त्रों में तो केवल साम शब्द ही पाये जाते हैं सामवेद शब्द नहीं इसलिए साम शब्द से सामवेद का अर्थ कैसे माना जा सकता है? इत्यादि।

इसका उत्तर यह है कि निःसन्देह साम शब्द ही अथवा साम विशेष शब्द ही पाये जाते हैं सामवेद शब्द नहीं। परन्तु साम शब्द का अर्थ यदि गीति है जैसा कि मीमांसा ने बतलाया तो यह भी ध्रुव निश्चित है कि वह कार्य है। बिना कारण का कार्य नहीं हुआ करता है। **कारणाभावात्कार्याभाव इति निश्चयात्** ऐसी अवस्था में सामगान के मूल कारण मूल मन्त्र ही हो सकते हैं अथवा और कुछ। यदि मूल मन्त्र ही हो सकते हैं तो सिद्ध हो गया कि **सामगान** के पहले साम मूल मन्त्र हैं।जब साम मूल मन्त्र हैं तो सामवेद भी है।

इसका कारण यह है कि जैसे अक्षर समुदाय का पद होता है, पद समुदाय का वाक्य होता है, वाक्य समुदाय का मन्त्र होता है, ऐसे ही मन्त्र समुदाय की संहिता होती है। यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता कि मन्त्र समुदाय तो हैं किन्तु संहिता नहीं है। यदि संहिता है तो मन्त्र भी हैं, यदि मन्त्र हैं तभी उनसे गान भी बनते हैं।

---

1. https:// hi.m.wikipedia.org
   देखो, मैक्समूलर (1) History of the Ancient Sanskrit literature,1859 का पुनर्मुद्रण पाणिनि ऑफिस इलाहाबाद तथा चौखम्बा, वाराणसी, 1970 और (2) India What it can Teach us? (Lectures)
2. एस.बी. गणपति (सम्पा.), सामवेद , मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1982 की भूमिका

तात्पर्य यह है कि मन्त्रों की विकृति के अतिरिक्त सामगान कोई और वस्तु नहीं है। मन्त्रों को तोड मरोडकर गाने के योग्य बना हुआ ही साम है। जैसे= गायत्र साम= इस मन्त्र का है- **तत्सवितुर्वरेण्यम्** और गान **तत्सवितुर्वरेणियोम् भार्गो देवस्य धी माही** इत्यादि।

ऐसे अवसरों पर यह प्रश्न भी तो हो सकता है कि यदि साम शब्द से सामवेद का अर्थ नहीं होगा तो ऋक् शब्द से ऋग्वेद अर्थ कैसे हो सकता है। जिन युक्तियों से ऋक् शब्द से ऋग्वेद सिद्ध होगा, उन्हीं से साम शब्द से सामवेद भी सिद्ध हो जायेगा। इस विषय की कोई ऐसी युक्ति अथवा प्रमाण नहीं है कि ऋक् शब्द से ऋग्वेद तो सिद्ध होगा किन्तु साम शब्द से सामवेद नहीं।

चारों वेदों अथवा मन्त्रों में केवल इसी प्रकार के शब्द आते हैं **ऋचो यजूंषि सामानि** और भाष्यकार लोग इन पदों का ही वेदत्रयी या चारों वेद अर्थ करते हैं। जैसा कि षड्गुरु शिष्य ने लिखा है कि **ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये** अत एव ऐसे प्रश्न भी भ्रान्तिमूलक ही हो सकते हैं। इनसे कुछ तत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

ऋग्वेद और भाषाविज्ञान

सबसे प्रथम संस्कृत साहित्य का निरुक्त ही भाषाविज्ञान का जन्मदाता कहा जा सकता है, यह सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है। परन्तु आज का भाषाविज्ञान अर्धविकसित अवस्था में है, इसलिए उससे किसी साध्य की यथार्थ सिद्धि होगी इसमें सन्देह है। अस्तु। भाषाविज्ञान के आधार पर पाश्चात्य और उनके अनुयायी पूर्वीय विद्वान् भी यह कहते हैं कि ऋग्वेद की भाषा ही कुछ ऐसी पुरानी और जटिल है जिससे विवश होकर कहना पडता है कि सब वेदों में पुराना ऋग्वेद है शेष वेद उसके बाद के हैं। अब हम यह विचार करने चलते हैं कि भाषा की दृष्टि से भी ऋग्वेद प्रथम सिद्ध होता है अथवा नहीं। इस विषय के प्रमाण रूप से हम कुछ मन्त्रों का उदाहरण देते हैं, जो कहने के लिए तो दोनों ही वेदों (ऋग्वेद और सामवेद) में हैं किन्तु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। हम इसलिए भी इन प्रमाणों को उपस्थित करते हैं कि भाषा विज्ञानियों का यह सिद्धान्त कि जहां तक कृत्रिमता का सम्बन्ध है वे सब पद, वाक्य, और मन्त्र नये हैं, और जहां तक स्वाभाविकता का सम्बन्ध है वे सब पद, वाक्य, और मन्त्र पुराने हैं यह उक्ति कहां तक सत्य और सही है?

निम्नलिखित सामवेद और ऋग्वेद के पाठ यह सिद्ध करते हैं कि सामवेद के पाठ पुराने तथा ऋग्वेद के पाठ नये हैं। जैसे-

सामवेद के पाठ	–	ऋग्वेद के पाठ
1. आसीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे		आसीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे
2. शुक्रा वियन्त्वसुराय निर्णिजे		शुक्रां वयन्त्यसुराय निर्णिजम् (9/99/1)
3. सुतः सुदक्ष धनिव (551, 574)		सुतः सुदक्ष धन्व (9/105/4)
4. दिवि सद् (672)		दिविषद् (9/61/10)
5. ये माणः (702)		ये मानः (9/75/3)
6. विराजसे (702)		विराजति (9/75/3)
7. वरिवो धातमो भुव (691)		वरिवो धातमो भव (9/1/3)
8. सुद्रुवम् (238)		सुद्रवम् (7/32/20)
9. परि नः शर्म (897)		परिणः शर्म (9/41/6)

उपर्युक्त मन्त्रों के निम्न पाठों पर विद्वान्पुरुष यदि ध्यान देंगे तो उनको दोनों पाठों(मूलपाठविषयक) के भेद (Textual Variations) स्पष्ट और युक्तियुक्त प्रतीत होंगे।

सामवेद	–	ऋग्वेद
1. आसीदतु		आसीदन्तु
2. वियन्तु		वयन्तु (9/99/1)
3. धनिव (551,574)		धन्व (9/105/4)
4. दिविसद् (672)		दिविषद् (9/61/10)
5. ये मा णः (702)		ये मा नः (9/75/3)
6. विराजसे (702)		विराजति (9/75/3)
7. भुव (691)		भव (9/1/3)
8. सुद्रुवम् (238)		सुद्रवम् (7/32/20)
9. परिनः (897)		परिणः (9/41/6)

उपपत्ति

इन पदों पर विचार करने से यह स्पष्ट पता चलेगा कि किस वेद के पाठ नये तथा किसके पुराने हैं। जैसे-

आसीदतु= यह साम पाठ है। किन्तु मन्त्र की परिस्थिति यह सिद्ध करती है कि इस एक वचन की जगह बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए तदनुसार ऋग्वेद में बहुवचन पाठ है। यह साम का पाठ तब का प्रतीत होता है जब एकवचन या बहुवचन का विचार भी नहीं था।

वियन्तु= इस पाठ का अर्थ करते हुए भाष्यकारों ने वयन्तु यही अर्थ किया है, तदनुसार ऋक् पाठ वयन्तु यही है।

ये माणः= यह साम का पाठ है। इसमें **न** का **ण** कायम रहना अयुक्त समझकर नकार का पाठ ठीक समझकर उसी को शुद्ध माना गया है। तदनुसार ऋक् पाठ नकार युक्त ही रक्खा गया प्रतीत होता है।

धनिव= यह पाठ धातु पाठ की दृष्टि से शुद्ध कर **धन्व** यही शुद्ध रूप है। तदनुसार ऋक् पाठ धन्व यही है। अत एव साम पाठ तब का है जब यह विचार भी नहीं था कि कैसा पाठ होना चाहिए।

दिविसद्= दन्त सकार वाला यह पाठ साम का है, किन्तु व्याकरण के अनुसार मूर्धन्य सकार होना चाहिए। ठीक उसी के अनुकूल ऋक् पाठ मूर्धन्य सकार युक्त है। इसलिए साम पाठ तब का है जब यह विचार भी नहीं था कि यहां कौन सकार होना चाहिए।

विराजसे= इस पाठ पर दृष्टि डालने से यह प्रतीत होता है कि यहां प्रथम पुरुष का पाठ ही युक्तियुक्त है। उसके अनुकूल ऋक् पाठ है।

भुव= यह पाठ, अर्थ की प्रक्रिया के अनुसार भव यही अर्थ करता है। ठीक इसी प्रकार का भव पद ऋक् पाठ है। यह ज्ञात होता है कि साम का पाठ उस समय का है जब यह विचार नहीं था कि भू धातु का यहां धातु रूप क्या होना चाहिए।

सुद्रुवम्= यह पाठ स्वाभाविक रीति से उच्चारण करने पर सरल और सीधा है, इसलिए अकृत्रिम है। किन्तु ऋक् का पाठ सुद्रूवम् सीधे यण् कर दिया गया है। व्याकरण की आंख से ठीक दीखता है इसलिए यही पाठ ऋग्वेद का है। पता लगा कि साम का पाठ बहुत प्राचीन है।

परिनः= यह साम का पाठ तब का ज्ञात होता है जब यह विचार नहीं था कि न कार का ण कार होना चाहिए। कालक्रम से जब यह विचार परिपक्व हो गया कि यह ठीक नहीं है इसलिए नकार का ऋग्वेद में चलकर णकार हो गया।

इन उपर्युक्त उदाहरणों पर एक बार गहरा विचार करने पर ज्ञात होता है कि सामवेद के पाठ प्रारम्भिक अवस्था के हैं, इसीलिए स्वाभाविक तरह से हैं। यही कारण है कि कहां कैसा पाठ उपयुक्त है अथवा नहीं, इस बात का विचार नहीं है।

बस सिद्ध हो जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था का परिचायक होने से साम पाठ प्राचीन है। तथा परिमार्जित अवस्था का परिचायक होने से ऋक् पाठ नये हैं।

इन उदाहरणों के रहते कोई भी विचारशील पुरुष यह नहीं कह सकता कि सामवेद के पाठ पुराने तथा ऋग्वेद के पाठ नये नहीं हैं। तब यह कहने में भी संकोच नहीं है कि सामवेद पुराना तथा ऋग्वेद नया क्यों न कहा जाए। ऐसा स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है यदि भाषा विज्ञान का यह नियम सही हो तो।

सम्पूर्ण ऋग्वेद में जिन मन्त्रों का सम्बन्ध सामवेद से बतलाया जाता है उन मन्त्रों का नब्बे प्रतिशत पाठ ऐसा ही है जैसा कि मैंने ऊपर उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है।

यदि इसी दृष्टि से विचार कर चारों वेदों का अनुवाद करने वाले आर. टी. एच. ग्रीफिथ ने अपने सामवेद की भूमिका में यह लिखा हो कि-seem in others to be older and more original than the reading of the Rigveda- अर्थात् ऋग्वेद के पाठ की अपेक्षा से सामवेद के पाठ पुराने और वास्तविक प्रतीत होते हैं "तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

इतना होने पर भी हम यह नहीं मानते कि सामवेद के पाठ पुराने होने से वह पुराना है, तथा ऋग्वेद के पाठ नये होने से वह नया है। इसका कारण यह है कि जहां सामवेद के पाठ पुराने और ऋग्वेद के पाठ नये ज्ञात होते हैं, वहां ऋग्वेद के भी कुछ ऐसे पाठ मालूम होते हैं कि जैसे वे साम से भी पुराने हों। जैसे-

सामवेद	–	**ऋग्वेद**
1. पवाते (535)		पवताम् (9/97/4)
2. सीदाति (535)		सीदतु (9/97/4)
3. ऋता (1357)		ऋतम् (9/97/37)
4. दीयति (1256)		दीयते (9/3/1)

स्थालीपुलाक न्याय से हमने केवल चार उदाहरण ही उपस्थित किये हैं, न्याय की तुला पर इन पदों को तौलने से ऐसा लगता है कि ऋग्वेद के पाठों का अर्थ ही साम के पाठ कर रहे हैं।

जब ऋग्वेद में आये हुए पदों का ही वे साम के पद अर्थ के रूप में प्रकट होते हैं तब तो किसी प्रकार का सन्देह करने का अवकाश ही नहीं मिलता कि साम के पाठ नये तथा ऋग् के पाठ पुराने नहीं हैं।

हमने दोनों वेदों के पाठों को तुला पर रख कर तुलना की तो यह मालूम हुआ

कि इस प्रकार के एकाङ्गी विचारों के आधार पर कोई विचारक अपना दृष्टिकोण स्थिर करे तो वह धोखा खा जायेगा जैसा कि अब तक के विचारकों के अनुशीलन भ्रान्त तथा कुविचारपूर्ण प्रतीत होते हैं।

इस प्रसंग में हम उन पुराने तथा कुछ नये भाष्यकारों और लेखकों के ऐसे विचारों से सहमत नहीं हैं कि जो अब तक यह दिखलाने का प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं कि सामवेद के कुछ मन्त्रों के अतिरिक्त कुल मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। ऋग्वेद के उन समस्त मन्त्रों, जिनकी सामवेद में आवृत्ति कही जाती है, की जब हम तुलना करते हैं तो दोनों के मूलपाठों में भिन्नता (Textual variations) अनेक रूपों में मिलती है, जैसे कि- (1)अर्थगत भिन्नता, Semantic Variations (2) ध्वनि या स्वर विज्ञान सम्बन्धी भिन्नता Phonetic Variations (3) आकृति सम्बन्धी या रूपात्मक भिन्नता Morphological Variations और (4) वाक्यरचना सम्बन्धी भिन्नता Syntactical Variations[1].

अत: हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि दोनों वेदों के पाठों को देखने से प्रतीत होता है कि इनमें पूर्वापर का विचार करना नितान्त भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि वेद अपौरुषेय वाणी (Non individual/Intuitive knowledge) है । ऋग्वेद के ऋषि को उन उन मन्त्रों का intuition उसी रूप में हुआ जिस रूप में वे ऋग्वेद में प्राप्य हैं और सामवेद के ऋषि को भी उसी रूप में जैसे कि वे मन्त्र सामवेद में उपलब्ध हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि जब दोनों ही वेदों के पाठ पुराने और समकालीन हैं तो फिर पाश्चात्य विद्वान् तथा उनको गुरु मानकर उनके पदचिह्नों पर चलने वाले पूर्वीय विद्वानों ने भी यह घोषणा करने का साहस कैसे किया कि दुनिया की लाइब्रेरी में सबसे प्रथम ऋग्वेद है।[2] हमारा अनुमान तो यह है कि इन महानुभावों ने कभी भी सामवेद को पढ़ने का कष्ट नहीं किया है। यदि पढ़ा भी है तो समझने की चेष्टा नहीं की है अथवा यह है भी इतना गहन कि समझ में ही नहीं आया हो। यही कारण है कि ऋग्वेद पर जितनी आसानी से इनकी लेखनियां चलती हैं, उतनी आसानी से उनकी साम पर नहीं चलती हैं। लेकिन कुछ विद्वान् हैं जिन्होंने इस दिशा में सोचने का प्रयास किया है। उनमें से एक हैं आधुनिक समय के वेदभाष्यकार स्व. पं. रामनाथ वेदालंकार, जो कि गुरुकुल कांगडी के यशस्वी स्नातक थे। उन्होंने सम्पूर्ण

---

1. देखो, परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली-7 से 2003 में प्रकाशित एवं डा.रवि प्रकाश आर्य द्वारा सम्पादित R.T.H. Griffith द्वारा कृत सामवेद के अंग्रेजी अनुवाद का इण्ट्रोडक्शन, पृ.22 से 37.
2. प्रो. मैक्समूलर, हम भारत से क्या सीखें?

सामवेद का यौगिक पद्धति पर दो भागों में संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं मे प्रामाणिक भाष्य किया है। भाष्य लिखने से पूर्व पं. जी ने सामवेद से सम्बन्धित एक विस्तृत भूमिका (74 पृष्ठों में) भी लिखकर, इस वेद के बारे में अनुसन्धानात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जानकारी पाठकों के लिए प्रस्तुत की है[1]।

स्वर-भेद

अब तक हमने विषय भेद तथा भाषा भेद से सामवेद की भिन्नता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त अब एक दूसरी दृष्टि से हम विचारने चले हैं, जो सम्पूर्ण सामवेद संहिता को जो पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक रूप से दो भागों में विभक्त है, सम्पूर्ण ऋग्वेद से, जो दश मण्डलों में विभक्त है एकदम पृथक् करती है। अथवा यों कहिए कि यह एक ऐसा प्रबल प्रमाण है जो सामवेद और ऋग्वेद का सम्पर्क भी अलग करता है। अब मेरा प्रयास केवल विद्वानों के विचार के लिए ही है। वह है दोनों वेदों का स्वर भेद (Accent Variation)।

स्वर भेद, अर्थभेद का नियामक है, अब इस विषय पर सन्देह नहीं रहा। अर्थभेद होने से विषयभेद के साथ ही सत्ता भेद भी सिद्ध होने में सन्देह नहीं हो सकता।

कुछ वेद के जिज्ञासुओं का विचार है कि दोनों वेदों के स्वरों में भेद नहीं है किन्तु पं. रामावतार शर्मा के शब्दों में वे जिज्ञासु हैं, अभी तक वे जान ही नहीं पाये हैं कि उनके स्वरभेद भी हैं।हम यहां कुछ ऐसे ही उदाहरण विद्वानों के विमर्श हेतु प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के पहले समझने के लिए कुछ संकेत जान लेना आवश्यक है जो विषय के ज्ञान में सहायता दे सके। तदनुसार सामवेद के मन्त्रों के ऊपर जो १।२।३ इस प्रकार के अंक पाये जाते हैं। यही उदात्त स्वरित और अनुदात्त के संकेत हैं। अर्थात् एक अंक उदात्त, दो स्वरित तथा तीन का अंक अनुदात्त को बतलाता है।

ऋग्वेद में **इन्द्रो मदाय** इत्यादि मन्त्रों के ऊपर तथा नीचे दो प्रकार की लकीरें दीखती हैं। ऊपर की स्वरित तथा नीचे की अनुदात्त की लकीर है उदात्त का कोई भी चिन्ह नहीं होता। बस सामान्य रीति से इतने ही संकेत पर्याप्त हैं।

अब हम सामवेद के प्रारम्भ से ही पांच मन्त्रों को उपस्थित कर उनकी ऋग्वेद के मन्त्रों से तुलना करते हैं जिससे यह बात भली भांति समझ में आ जायेगी कि इन दोनों वेदों में स्वर भेद कैसे हैं?

---

1. सामवेद-भाष्यम्, आचार्य रामनाथः, समर्पण शोध संस्थानम् साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ.प्र.), 1991

सामवेद	–	ऋग्वेद
1. अग्न आयाहि		अग्न॒ आया॑हि (6/16/10)
2. त्वमग्ने यज्ञानाम्		त्वमग्ने य॒ज्ञा॒ना॒म् (6/16/1)
3. अग्निं दूतम्		अ॒ग्निं दू॒तम् (1/12/1)
4. अग्निवृत्राणि		अ॒ग्निर्वृ॒त्राणि॑ (6/16/34)
5. अग्ने रथन्न वेद्यम्		अ॒ग्निं रथ॒न्न वेद्य॑म् (8/84/1)

स्पष्टीकरण

उपर्युक्त पांच उदाहरणों पर विचार करने से उनमें भेद दृष्टिगोचर होगा। जैसे-

1. सामवेद के **अग्ने** पद के **अ** पर स्वरित का चिह्न है जब कि ऋग्वेद के अग्ने पद के अकार पर स्वरित का चिह्न नहीं है।

2. दूसरे मन्त्र के **यज्ञानाम्** इस पद के **ज्ञा** पर सामवेद में स्वरित का चिह्न विद्यमान है जबकि ऋग्वेद के मन्त्र के ज्ञा पर कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए वह अक्षर ऋग्वेद में उदात्त है, साम में स्वरित है।

3. तीसरे मन्त्र के **अग्निम्** पद के **ग्नि** पर सामवेद में स्वरित का चिन्ह है जब कि ऋक् के मन्त्र के **ग्नि** पर कोई चिह्न नहीं है, इसलिए यहां वह स्वरित नहीं उदात्त है।

4. चौथे मन्त्र के **अग्निः** पद के **ग्निः** पर सामवेद में स्वरित का चिह्न होने से वह स्वरित है जबकि ऋग्वेद के मन्त्र में वह उदात्त है।

5. 5वें मन्त्र में तो सामवेद का **अग्ने** सम्बोधन है जब कि ऋग्वेद में द्वितीयान्त **अग्नि**पद दीखता है। इसके साथ साथ ऋग्वेद में अग्नि पद का अ अनुदात्त है और सामवेद में स्वरित है।

इस प्रकार के उदाहरण देकर हमने यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है कि दोनों वेदों में स्वरों का महान् भेद विद्यमान है[1]। स्वरभेद होने से अर्थभेद है और अर्थभेद होने से विषयभेद एवं स्वातन्त्र्य भेद भी स्वतः सिद्ध हो जाता है।

---

1. इस स्वर-भेद के विषय में डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि साम में साहित्यिक स्वरपद्धति इतनी प्रभावी थी कि स्वतन्त्र उदात्त भी स्वरित के रूप में परिवर्तित हो जाता था। इस प्रवृत्ति के मूल कारण का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि वाक्य के अन्त में स्वराघात नीच हो जाता है। (Studies in the accentuation in the Samaveda, proceedings of 6th AIOC Patana, 1928, P.517-25.

ऐसी अवस्था में सामवेद को ऋग्वेद का संग्रह मानना तथा दोनों में स्वर भेद नहीं मानना कितनी भयंकर भूल है यह विद्वज्जनों के लिए विचारणीय है।

हमने जो 5वां मन्त्र उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। उस पर थोडा दृष्टिपात करने से कुछ और विशेषता दिखलाई देती है। वह यह कि इस मन्त्र के प्रथम पद को जब हम देखते हैं तो सामवेद में सम्बोधन है और ऋग्वेद में द्वितीयान्त। इस पद के अर्थ पर विचार कीजिए तो साम के पद का हे अग्ने अर्थ होगा, जब कि ऋग्वेद के अग्नि को ऐसा अर्थ होगा। अब विचारना यह है कि हे अग्ने! और अग्नि को कोई भी विचारशील पुरुष एक नहीं मान सकता है। कारण यह है कि हे अग्ने यह पद तो प्रत्यक्ष अर्थ का निर्देश कर रहा है जब कि दूसरा परोक्ष अर्थ की प्रतीति करा रहा है। इस प्रकार अटक से कटक की दूरी की तरह भेद की प्रतीति होने पर भी कोई विचारक मस्तिष्क की गुलामी से यदि भेद नहीं देखता तो इसमें दोष किसको दिया जाय।मन्त्रों का दोष तो है नहीं। वे तो अपना स्वरूप स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं इतने पर भी हमको नहीं दीखता तो यह लोकोक्ति सही मालूम होती है कि **नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।**

निरास

पिछली पंक्तियों में हमने बतला दिया है कि विषय, पाठ, भाषा और स्वर भेद से सामवेद के 1875 मन्त्र अपने आप में स्वतन्त्र हैं, ऋग्वेद से संगृहीत नहीं किये गये हैं। इतना होने पर भी कुछ लोग युक्त्याभास से विरोधाभास दिखलाने का प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं। वे कहते हैं कि **ऋचि अध्यूढं साम गीयते**[1] इत्यादि प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद के आश्रय से ही सामवेद की सत्ता है। इत्यादि।

पैनी दृष्टि दौड़ाने पर यह शङ्का भी निर्मूल ही सिद्ध होगी ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त अवकाश है।

यदि इसी प्रकार का विश्लेषण किया जाय तो शङ्का का सरल समाधान हो जायगा। यह प्रमाण कहता है कि **ऋचा के आश्रित ही साम का गान होता है।** इसका अभिप्राय यह हुआ कि साम की उत्पत्ति का आधार ऋचा है। अब विचारना यह है कि ऋचा क्या चीज है। मीमांसा दर्शन ने ऋचा का निर्णय निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है कि- **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था** (2/1/35) अर्थात्-अर्थ के अधीन जिसके पाद की व्यवस्था की जाय वह ऋचा है। भाव यह हुआ कि छन्दोबद्ध मन्त्र ऋचा है। सम्भवत: गानविद्या के निपुण पर्यवेक्षकों अथवा छन्द:शास्त्र के जानने वालों को भी यह मालूम होगा कि गान पद्य में ही होता है, गद्य रूप में नहीं या यों

---

1. छा. उप. 1/7/1

कहिए कि काव्यकला की वह देन है कि पद्य के रूप में प्रकट होकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में वह अन्यतम साधन हो जाती है।

जब गान है तो उसका पद्य से सम्बन्ध कैसे नहीं हो सकता है। अस्तु।

मीमांसा दर्शन के **अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्यात्** (9/2/29) सूत्र पर शबर स्वामी ने साम के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि- **सामवेदे सन्ति सहस्त्रं गीत्युपायाः। आह, कतमे ते गीत्युपाया नाम? गीतिर्नाम क्रिया आभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका साम शब्दाभिलप्या। सा नियत प्रमाणायां ऋचि।**

भावार्थ- सामवेद में एक हजार गान के उपाय हैं। प्रश्न- वे कौन हैं? उत्तर- भीतरी प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली और विशेष स्वरों का प्रकाश करने वाली गीति या गान ही साम है और वह नियत या पादबद्ध अथवा छन्दोबद्ध ऋचा में ही उत्पन्न होता है अथवा उसी से बनता है। शबर स्वामी के शब्दों से ही यह बात सिद्ध हो गई कि सामगान छन्दोबद्ध ऋचाओं से बनते हैं न कि ऋग्वेद से। ऋग्वेद और चीज है और ऋचायें भिन्न वस्तु हैं। छन्द और गान का नित्य सम्बन्ध है इसलिये गान भी गाने योग्य मन्त्रों से ही बन सकते हैं। अत एव उपरोक्त शङ्का का भी अवकाश नहीं है[1]।

पुनरुक्त

सामवेद पर अनेक प्रकार से लोगों ने आक्रमण किये हैं। उनमें एक दोष यह दिया जाता है कि वह ऋग्वेद का संग्रह है जिसका निरास या खण्डन हो चुका है। दूसरा दोष यह भी दिया जाता है कि कुछ मन्त्र पुनरुक्त भी हैं जिनका दूसरा अभिप्राय ही नहीं होता है। केवल आवृत्ति मात्र हैं। इत्यादि। निबन्ध की आकार वृद्धि से भय हो रहा है तथापि संक्षेप में इस विषय पर भी थोडा प्रकाश डालना आवश्यक है। इस विचार का यहां तक फल देखने में आया है कि 72 मन्त्रों का सामवेद

---

1. इस विषय में प्रो. ओम्प्रकाश पाण्डेय ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए लिखा है: Samavedis hold a firm belief that Samaveda Samhita has an independent form. It has not been taken from any present or extinct Samhita of Rigveda. ऋचि अध्यूढं साम गीयते conveys only that Ṛk and Sāma are connected with each other as a container and the contained. (*Vedic Literature: An Introduction* (p.470), chapter-30 "Arya Samaj and the Vedic Worldview" edited by Ram Prakash & Jitendra, Centre for studies in civilizations, New Delhi. 2016)

छपकर प्रकाशित होगया है[1]। इस विषय का एक ही प्रबल प्रमाण उपस्थित करते हैं। वह प्रमाण पाणिनि व्याकरण के जन्मदाता महर्षि पाणिनि का है, जिससे पुनरुक्त दोष का दुरुपयोग करने वालों का पूरा समाधान हो जायेगा। उन्होंने एक ही सूत्र लिखा है, जिसके आकार प्रकार अक्षर या मात्रा में जरा भी भेद नहीं किया है। जैसे-

बहुलं छन्दसि-2.4.73; 5.2.122; 7.1.8; 7.1.103; 7.4.78; 2.4.39; 3.2.88; 9.1.34; 7.1.10; 7.3.97 इत्यादि।

पाणिनि ने इन सूत्रों को भिन्न-भिन्न अर्थ की सिद्धि के प्रयोजन से बनाया है जैसे बहुलं छन्दसि (2.4.73) का सूत्र वेद में विकल्प से अद् धातु का घस्लृ आदेश करता है। (2.4.73) का सूत्र अदादि गण के नियम से प्राप्त शप् के लुक् का परिवर्तन कर देता है। (2.4.76) का सूत्र जुहोत्यादि गण के श्लु के नियम का परिवर्तन कर देता है। (3.2.88) का सूत्र क्विप् प्रत्यय के नियम का परिवर्तन करता है। (5.2.122) का सूत्र विनि प्रत्यय के नियम का परिवर्तन कर देता है।

इन पांच सूत्रों के ही सम्बन्ध में जो मैंने विचार उपस्थित किये इनसे यह समझने में कोई कठिनता नहीं मालूम होती कि यद्यपि ऊपर से देखने में सूत्र तो एक ही समान के मालूम होते हैं। फिर भी इनके अर्थ और प्रयोजन भिन्न-भिन्न होते हैं।

कल्पना कीजिए कि कोई विचारक यह विचार कर ले कि सारे सूत्र एक समान ही हैं इसलिए एक सूत्र को छोडकर शेष सूत्रों को अष्टाध्यायी से छांटकर निकाल देना चाहिए तो जितनी भयंकर भूल ऐसा विचारक कर सकता है, उससे कहीं अधिक भूल यह होगी कि वेद मन्त्रों को ही छांटकर पृथक् कर दिया जाय अथवा यह कह दिया जाय कि इन मन्त्रों के अर्थ हो चुके हैं। यह दूसरी बात है कि हमारी समझ में यह मन्त्र नहीं आता हो किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होगा कि संशोधन कर दिया जाय। अतएव इस प्रकार के सन्देह अथवा प्रयत्न का होना अविद्या देवी की कृपा का परिणाम ही कहना चाहिए। श्री अरविन्द भी वेदों में पुनरुक्ति को दोषयुक्त नहीं मानते।[2]

---

1. स्वामी गंगेश्वरानन्द, वामन सामवेद:, संवत् 2042
2. पुनरुक्ति तब त्याज्य और दोषयुक्त मानी जाती है जब वह भद्दी अनावश्यक, अर्थहीन और भाररूप हो। अन्यथा वेदों की तरह रहस्यमय कविता में भी वह दोषयुक्त नहीं मानी जाती और कवि जोर देने, किसी अपरिचित भाव को हृदय पटल में अंकित करने के लिए और एक विशेष प्रभाव का वातावरण बनाने, सौन्दर्य तथा प्रभाव बढाने के लिए उसका अधिकतर प्रयोग करते हैं (Letters on Savitri) – वेदवाणी, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत हरयाणा, नवम्बर 1998, पृ.138

आरण्यक पर्व

ऐतरेयारण्यक, शांख्यायनारण्यक, बृहदारण्यक (माध्यन्दिन), बृहदारण्यक (काण्व), तैत्तिरीयारण्यक, मैत्रायणीयारण्यक तथा तवलकारारण्यक इत्यादि आरण्यक ग्रन्थों के पाये जाने से सामवेद के आरण्यक पर्व को कुछ लोग परिशिष्ट रूप से पीछे से जोडा गया हुआ मानते हैं,[1] यह उनकी भूल है। कारण यह है कि जितने आरण्यक ग्रन्थ पाये जाते हैं, वे सबके सब मन्त्र नहीं हैं किन्तु ब्राह्मण के समान वन में रहने वाले वानप्रस्थों के प्रकाशित किये हुए हैं, इसलिए उनका नाम आरण्यक है। यही प्रसिद्ध उनका नाम है। आरण्यकों की भाषा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा से मिलती जुलती है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं[2], अब यह बात सब लोग मानने लग गये हैं। ऐतिहासिक लोग भी ऐसा ही कहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि मन्त्र रूप से आरण्यक था तो पाणिनि ने उसका नाम क्यों नहीं लिया। पाणिनि के नाम नहीं लेने से उनके समय के बाद का आरण्यक पर्व है इसलिए परिशिष्ट मानना चाहिए इत्यादि।

इस प्रकार के अनुमान अनुमान नहीं हैं वे अनुमानाभास हैं। पाणिनि के समय में दो विभाग हो चुके थे यह बात उनके सूत्रों से ज्ञात होती है। उन्होंने लिखा है कि **छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि** (4/2/6)। छन्द और ब्राह्मण इस तरह दो विभाग करने से, उनका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि आरण्यक जो मन्त्र रूप में थे वे छन्दविभाग के अन्तर्गत थे। अत एव मन्त्र या छन्द शब्द से ही उनका भी ग्रहण कर उसी शब्द से उनका व्यवहार करना पाणिनि को उचित जंचा। इसीलिए आरण्यक शब्द का पृथक् नाम लेकर मन्त्र भाग से उसको पृथक्त्व संदेह होने का निरास या खण्डन किया हुआ ही उनका आशय प्रतीत होता है न कि उस समय वह भाग नहीं था इसलिए उन्होंने नाम नहीं लिया यह भाव है। आशय यह है कि उन पाणिनि का यह अभिप्राय कदापि सिद्ध नहीं होता कि उनके समय में वह भाग ही नहीं था। अतएव ऐसा समझना कि आरण्यक पर्व नहीं था यह विचार अयुक्त है।

---

1. देखो, प्रो. व्रज बिहारी चौबे, संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास(प्रथम वेद खण्ड), उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, पृ.282-84
2. स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, वेद मीमांसा (विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1997) में- 'ब्रह्मणो व्याख्यानानि ब्राह्मणानि' स्वामी दयानन्द सरस्वती, ऋभाभू में– 'चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि' आचार्य सायण, तै. सं. भाष्यभूमिका में – 'यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः'

इस तरह की बातें बनाने वालों से हम एक प्रश्न करना चाहते हैं, वह यह कि पाणिनि के समय में आरण्यक पथ, आरण्यक हाथी, महान् हिम और महान् अरण्य ये सब कुछ थे कि नहीं। ऐसे कहने वालों को तो यही कहना चाहिए कि ये सब कुछ नहीं थे। क्योंकि ये सब होते तो इन पदों का साधन वह अवश्य ही दिखलाते। यदि वह ऐसा कर गये होते तो वार्तिककार स्वनामधन्य महर्षि कात्यायन को यह वार्तिक बनाने की क्या आवश्यकता होती। जैसे-**पथ्यध्यायन्यायविहार-मनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम्।** सूत्रकार की कमी की पूर्ति करना वार्तिककार का काम है। सूत्रकार जिस साधन को छोड गये थे दूसरे ने उसकी पूर्ति की। अतः इस प्रकार की कल्पना भी निर्मूल ही प्रतीत होती है। हमारा विचार यह है कि पाणिनि के समय में आरण्यकमन्त्र अवश्य थे किन्तु मन्त्र के रूप में थे । वे न तो ब्राह्मण रूप में थे और न ब्राह्मण के समान आरण्यक रूप में थे। इस पर्व में देखा जाय तो किसी अन्य पर्व से कोई कमी नहीं दीखती है।जैसे अन्य पर्वों में ऋषि, छन्द और देवता का क्रम देखा जाता है, ठीक उसी क्रम से वे सब कुछ यहां भी अपने अपने स्थान पर विराजमान हैं। इसलिए इस पर्व को परिशिष्ट कहना भयंकर भूल है।

पर्व

सामवेद के पूर्वार्चिक में चार पर्व हैं। आग्नेय पर्व, ऐन्द्र पर्व, पवमान पर्व और आरण्यक पर्व। इन चारों पर्वों का प्राचीन नाम पर्व के रूप में चला आ रहा है। किन्तु कुछ समय से इन पर्वों के साथ काण्ड शब्द का व्यवहार भी लोग करने लग गये हैं। ऐसा व्यवहार करना उचित नहीं है। क्योंकि काण्ड शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में किया जाता है। सामवेद में ऐसा प्राचीन सम्प्रदाय नहीं है।

सामवेद के ब्राह्मण अथवा संहिता में कहीं भी काण्ड शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि काण्ड शब्द का व्यवहार कहां से आ गया। यह बात स्पष्ट है कि सबसे पहले सायणाचार्य ने काण्ड शब्द का प्रयोग सामवेद के पर्वों के स्थान में किया था। इस प्रयोग की अयुक्तता सिद्ध करते हुए सत्यव्रत सामश्रमी जी ने निरुक्तालोचन में लिखा है कि- *"सामवेदे-सामसंहितासु आर्चिक संहितासु ब्राह्मणेषु वा न क्वापि तैत्तिरीया दाविवकाण्डविभागो दृश्यते अपितु सर्वास्वेव संहितासु पर्वेति ब्राह्मणेषु च पञ्चिकेति च तेन व्यज्यते सायणस्य तैत्तिरीयादावेव कृतबहुश्रमत्वमिति"* अर्थात् सायणाचार्य का पर्व के स्थान में काण्ड शब्द का प्रयोग करना साबित करता है कि सामवेद के विषय में उनकी इतनी जानकारी रही थी कि परम्परानुसार पर्व शब्द का प्रयोग करते। क्योंकि साम संहिता अथवा साम ब्राह्मण दोनों ही विभागों में पर्व और पञ्चिका शब्दों का ही व्यवहार देखा जाता है, काण्ड शब्द का नहीं। इसी तरह दशति के स्थान

में खण्ड शब्द का प्रयोग भी उन्होंने ही चलाया है। इससे मालूम होता है कि तैत्तिरीय संहिताओं में ही उनका विशेष परिश्रम था। इत्यादि।

इन युक्तियों से यह सिद्ध हो गया कि पर्व शब्द का ही लिखना या छापना और व्यवहार करना प्राचीन शैली है, काण्ड शब्द का नहीं। काण्ड का प्रयोग सायण सम्प्रदाय है जो अयुक्त है। इनकी अयुक्तता से शब्दों की अयुक्तता स्वतः सिद्ध होती है।

शाखायें

यद्यपि सामवेद की तेरह शाखाओं के नाम ग्रन्थों में पाये जाते हैं, तथापि इस समय केवल तीन ही शाखायें प्राप्त होती हैं। वे ये हैं- कौथुमी, राणायनी, और जैमिनीय। इन तीनों में भी राणायनी हस्तलिखित रूप में कहीं कहीं पायी जाती है।

कौथुमी तथा राणायनी शाखाओं में अध्याय आदि के भेद के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं है। सबके मन्त्र ज्यों के त्यों वे ही पाये जाते हैं जो कौथुमी में हैं। जैमिनीय संहिता के क्रम में भेद नहीं होते हुए भी उसके पाठ में भेद अवश्य ही है। इसके अतिरिक्त उसमें स्वतन्त्र मन्त्र भी कुछ हैं। जो अन्यों में नहीं हैं। इस जैमिनीय संहिता के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह संहिता कौथुमी के बाद प्रचलित हुई है इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, किन्तु हम एक ही युक्तियुक्त प्रमाण देते हैं।

इन दोनों संहिताओं के पाठों पर विचार करने पर निम्नलिखित एक मन्त्र के एक ही पद के दो तरह के पाठ प्राप्त होते हैं जो दोनों के समयों का पार्थक्य सूचित करते हैं[1]।

कौथुमी शाखा	-	**जैमिनीय शाखा**
रीषतः		रिषतः

केवल एक ही उदाहरण पर आप विचार करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि- कुथुमसम्प्रदाय की संहिता में दीर्घ रीष् धातु का पाठ है जबकि जैमिनीय में – ह्रस्व रिष् धातु का पाठ मिलता है।धातु पाठ के अध्ययन से ह्रस्व रिष् धातु का पाठ मिलता है, दीर्घ रीष् धातु है ही नहीं इसलिए इसके सम्बन्ध में यह अनुमान सम्भव है कि जैमिनी संहिता का पाठ धातुपाठ के अनुसार होने से कौथुमी की अपेक्षा से यह पीछे प्रचलित हुई है। युक्ति यह है कि कौथुमी का पाठ तबका है, जब धातुओं का संग्रह भी नहीं हुआ था अन्यथा ऐसा नहीं होता।

---

1. देखो, आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, सामवेद-संहिता (भाषा-भाष्यसहित), भूमिका, पृ. 51, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब, जालन्धर 1966

कौथुमी शाखा पर ही अब तक के भाष्यकारों के भाष्य भी पाये जाते हैं। इसलिए भी वही सबसे प्राचीन सिद्ध होती है।

उपसंहार

हमने इस निबन्ध में सामवेद के सम्बन्ध में विषयभेद, भाषाभेद, पाठभेद तथा स्वरभेद के प्रदर्शन के द्वारा यह विचार उपस्थित किया है कि इतने भेद सिद्ध होते हैं कि जिनसे विवश होकर यही कहना पडता है कि सामवेद संहिता एक स्वतन्त्र सत्ता रखती है। वह भी न केवल कुछ मन्त्रों के रूप में अपितु 1875 मन्त्रों के रूप में ही वह प्रकट हुई और अब तक उसी रूप में ही विद्यमान रहकर मानव समाज ही नहीं अपितु प्राणीमात्र के कल्याण का उपदेश दे रही है। इस निबन्ध के अन्त के भाग में मैंने कुछ शङ्काओं का समाधान कर पर्व, आरण्यक, तथा शाखाओं के विषय में भी कुछ विचार उपस्थित किये हैं। निबन्ध अधिक बड़ा न हो जाये इसलिए कुछ बिन्दु देवता आदि की भिन्नता के छोड़ दिये गये हैं। यह सर्वथा सिद्ध है कि सामवेद का ऋग्वेद से मौलिक भेद है क्योंकि वहां मन्त्रों में कहीं कहीं देवता भेद भी है। देवता भिन्न होने पर अर्थ की भिन्नता स्वयमेव सिद्ध है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सामवेद ऋग्वेद पर आश्रित नहीं है।इसकी अपनी अलग सत्ता वैसी ही है जैसे अन्य तीन वेदों की। पद्मश्री डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने तो 09 कारणों से सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है[1]। इति

-दिनेशचन्द्र शास्त्री

---

1. देखो, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, (सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता, पृ. 81-83), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण: 2000 ई.

सौत्रामण्यां सुरापानम्

-रामनाथः वेदालङ्कार

सौत्रामणीयागे सोमेन सह संमिश्र्य सुरा पीयते। वाजसनेयिमाध्यन्दिनशुक्ल-यजुर्वेदसंहितायाः 19-21 अध्यायेषु सौत्रामणीयागो वर्णितः। सुरां सोमेन मिश्रयति–

स्वा॒द्वीं त्वा॑ स्वा॒दुना॑ ती॒व्राम् ती॒व्रेण॑ अ॒मृता॑म् अ॒मृते॑न।
मधु॑मतीं॒ मधु॑मता सृ॒जामि॒ सं सोमे॑न॥ (19।1) इति।

सुरेयं स्वाद्वी, तीव्रा, अमृता, मधुमती च विद्यते। ननु केयं सुरा? अत्राह शतपथब्राह्मणम्–

अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत् सुरा।

(श.ब्रा. 12।8।1।4) इति।

ओषधयः काञ्चन अद्भिः सह संमेल्य निश्च्योत्यन्ते, प्राप्तो रस एव सुरा। सोमलतायाश्च रसः सोमः, सोऽप्येवं वर्णितः–

स्वा॒दुष्किला॒यं मधु॑माँ उ॒तायं ती॒व्रः किला॒यं रस॑वाँ उ॒तायम्।

(ऋग्. 6।47।1) इति।

सुरया मिश्रितः सोमः पानेन किं फलं जनयतीत्युच्यते–

ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं प॑वते॒ तेज॑ इन्द्रि॒यं सु॒र॑या॒ सोम॑ः सु॒त आसु॑तो॒ मदा॑य। (यजु. 19।5)

सुतः अभिषुतः सोमः सोमरस, सुरया आसुतः मिश्रितः पीतः सन् मदाय हर्षाय भवति। किञ्च ब्रह्म ब्रह्मबलं, क्षत्रं क्षात्रबलं, तेजः कान्तिम्, इन्द्रियम् आत्मबलं च पवते जनयति।

सुरानिर्माणविधिः

अथ कासाम् ओषधीनां रसोऽद्भिः सहितः सुरा कथ्यते इति प्रश्नः समुदेति। तत्रापि किं निष्पीडितानां कासाञ्चिदोषधीनां प्रत्यग्रो रसः सुरा, यद्वा पर्युषितः आसवारिष्टादिरूपे परिवर्तितः?

कात्यायनश्रौतसूत्रे (का. 19।1) सुरानिर्माणविधिरुपदिष्टः। स एव यजुर्वेदभाष्ये एकोनविंशाध्यायस्य प्रारम्भे महीधरेणापि प्रदर्शितः। तत्संक्षेपोऽत्र दीयते–

प्रथमं तावत् शष्यं तोक्मान् लाजान् नग्नहुं चानयेत्। विरूढा ब्रीहयः शष्यं, विरूढा यवास्तोक्माः, भृष्टब्रीहयो लाजाः। सर्जत्वक्-त्रिफला-शुण्डी-पुनर्नवा-चतुर्जातक-पिप्पली-गज पिप्पली-वंशावका-बृहच्छत्रा-चित्रक-इन्द्रवारुणी-अश्वगन्धा-धान्यक-यवानी-जीरकद्वय-हरिद्राद्वय-विरूढयव-ब्रीहयः एकीकृता नग्नहुः। एतान् शष्य-तोक्म-लाज-नग्नहून् संचूर्ण्य ब्रीहिश्यामाकयोश्चरू बहुजले पक्त्वा शृतालम्भनानन्तरं तयोश्चर्वो-र्निःस्रावम् उष्णं पृथक्पात्रयोरादाय शष्यादिचतुर्णां चूर्णैः संसृज्य स्थापयेत्। ततश्च कुम्भ्यां प्रक्षिप्य त्रिरात्रं गर्ते निदध्यात्। सा सुरा। तदुक्तम्–

तिस्रो रात्रीः सुराऽऽसुता। (यजु. 19।14) इति।

इयं च सुरा द्राक्षाद्यासववत् रोगापहा, शक्तिप्रदायिनी, चेतः प्रसादकरी, प्रज्ञोन्मेषयित्री ब्रह्मत्वक्षत्रतववर्द्धिका, इन्द्रियाणां प्राणानां च बलप्रदा, न चोन्मादकारिणी। कात्यायनेन या ओषधयः संकेतितास्तासु यथायोग्यं परिवर्तनं परिवर्द्धनं चापि कर्तुं शक्यते यतो नायं वेदादेशो यदेता एवौषधयः सुरानिर्माणे ग्राह्या इति।

सुरासोमपानमन्त्रः

सुरामिश्रितं सोमम् अधस्तनेन मन्त्रेण पिबति, यथोक्तं शतपथे–

स भक्षयति, यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्येति। (श. ब्रा. 12।8।1।5)

यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमं राजानमिह भक्षयामि;

(यजु. 19।35)

रसिनः रसवतः सोमस्य यद् यो भागः अत्र सुरायां रिप्तं लिप्तं मिश्रीभूतम् यद् यं सुरामिश्रं सोमभागम् इन्द्रः श्रेष्ठो यागकर्ता कश्चित् शचीभिः प्रज्ञापूर्वकैः कर्मभिः अपिबत् पिबति, अस्य सुरामिश्रस्य सोमस्य तत् तं भागम् अहम् इह अस्मिन् यज्ञे शिवेन मनसा प्रफुल्लेन चेतसा भक्षयामि भुञ्जे पिबामि वा। किञ्च, 'सोमो राजा अयम्' इत्येव मत्वा भक्षयामि पिबामि वा, न तु सुरामिश्रितमिदं द्रव्यम् अपूतमिति बुद्ध्या सेवे इति भावः।

अत्रोक्तं शतपथे–"अहं तदस्य मनसा शिवेन" इति, अशिव इव वा एष भक्षो यत् सुरा ब्राह्मणस्य, शिवम् एव एनम् एतत् कृत्वा आत्मन् धत्ते। "सोमं राजानमिह भक्षयामि" इति सोम एवास्य राजा भक्षितो भवति। तद्धैतद् अन्ये अध्वर्यवः राजन्यं वा वैश्यं वा परिक्रीणन्ति, स एतद् भक्षयिष्यतीति, तदु तथा न कुर्यात्। यो ह वा एतद् भक्षयति तस्य हैव पितॄन् पितामहान् एष सोमपीदोऽन्वेति इति।

अयं भावः सुरा तावद् रसस्य तिस्रो रात्रीः कुम्भ्याँ रक्षितत्वात् पर्युषिता भवति, तया सुरया मिश्रितत्वात् सोमोऽपि अपवित्रः अभोज्यश्च ब्राह्मणस्येति केचिन्मन्यन्ते। ते च तत्पानाय शुल्कं दत्त्वा क्षत्रियं वा वैश्यं वा परिक्रीणन्ति, अयमेतं पास्यति फलं चास्माकं भविष्यतीति। तस्य निषेधः क्रियते। नैतद् ब्राह्मणो मन्येत अपवित्रेयं सुरा इति। विविधौषधीनां रस आसवरूपे परिणतः, शरीराय मनसे च पोषकः, अतः सोमवदेव पवित्रः। किं च, येन यत् कार्यं क्रियते तत्फलमपि तेनैव प्राप्यते। अतस्तत्पानाय राजन्यो वा वैश्यो वा न परिक्रेतव्यः। यः पास्यति स एव शरीरेण मनसा प्रज्ञया च पुष्टो यशस्वी च सन् स्वपितृपितामहानपि यशोभाजः करिष्यतीति।

एवं सौत्रामणीयागमन्त्रेषु सुराशब्दं दृष्ट्वाऽस्माभिर्भ्रान्तैर्न भाव्यं यन्निन्दितेयं सुरा। एषा सुरा निन्दिता नास्ति, न चोन्मादकारिणी, प्रत्युत पवित्रा पावित्र्यविधायिनी च। एतदप्यावश्यकं नास्ति यच्छ्रौतसूत्रे सुरानिर्माणस्य यो विधिः परिकल्पितः साकल्येन स एवानुस्रियते। तत्र परिवर्तनमपि कर्तुं शक्यते, केषाञ्चिदोषधीनां प्रत्यग्रोऽपि च रसः सुरारूपेण ग्रहीतुं शक्यते।

✦✦✦

एकं वेदस्यासमाधेयस्थलम्

-म.म. वेदाचार्य आचार्य विश्वश्रवाः व्यास

"यदंधिग॒वं क्षी॒रं वा॑ मा॒सं वा॑"

(अथर्व. 9 काण्ड 6 सूक्त 3 पर्याय)

अथर्ववेदेऽतिथियज्ञप्रसङ्गे समाम्नायते–यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति तस्य विविधानिष्ट प्रसङ्गः। तत्प्रकरणे मन्त्रः श्रूयते–

ए॒तद् वा उ स्वादी॑यो यदंधिग॒वं क्षी॒रं वा॑ मा॒सं वा॒ तदेव॒ नाश्नी॑यात्॥ अथर्व.9।6।3।39॥

अस्य मन्त्रस्य भाष्यं पाश्चात्याः पौरस्त्या आधुनिकाश्च विद्वांसोऽधोलिखितप्रकारेण कुर्वन्ति। तथाहि–

1. Now the sweetest portion, the Produce of the cow, Milk, or Flesh that verily he should not eat. **–ग्रिफिथ**

2. यह जो स्वादयुक्त है जो गौ से प्राप्त होने वाले दूध या अन्य मांसादि पदार्थ हैं उस में कोई पदार्थ अतिथि से पूर्व भी न खावे। **–सातवलेकर**

3. यह निःसन्देह बढ़कर स्वादु जो गौ का दूध है और जो मांस है उसी को पहले न खावे। **–पं. राजारामशास्त्री**

4. पं. बिहारीलालशास्त्री काव्यतीर्थ–

अनार्यों का स्वादिष्ट भोजन मांस है, आर्यों का दूध अतः वेद कहता है कि अनार्य लोग अतिथि से पहले पकाया मांस न खावे और आर्य अतिथि से पूर्व दूध न पीवे। –अथर्ववेद का स्वाध्याय, इत्यादि

इमानि सर्वाणि महापव्याख्यानानि। उपनिषदादिग्रन्थेषु यत्र कुत्रापि 'मांसौदन' शब्दप्रयोगस्तत्रार्यविद्वद्भिः "माषौदनम्" इति पाठः स्वेच्छया परिवर्तितः। अनधिकारचेष्टैव सा। वेदे मांसशब्दपरिवर्तने न साहसितं तैः। अतोऽयं मन्त्रः सविस्तरं व्याख्यायते। मन्त्रस्य पदपाठस्त्वित्थं ज्ञेयः–

ए॒तत्। वै। ऊं इति॑। स्वादी॑यः। यत्। अ॒धि॒ऽग॒वम्। क्षी॒रम्। वा॒। मा॒सम्। वा॒। तत्। ए॒व। न। अ॒श्नी॒या॒त्॥

भाष्यम्-

'क्षीरं वा मांसं वा'। वेति समुच्चयार्थे।
अथापि समुच्चयार्थे भवति॥ निरुक्त 1।5॥

क्षीरं च मांसं चेत्यर्थः। 'उ' इति निपात उत्तरवाक्यगतत्वेनोपात्तो विनिग्रहार्थीयो भवति अत्र पूर्ववाक्यगतत्वेनोपात्तः पदपूरणः। "वै" इति निश्चयार्थः। 'एतत्' अनुपदमेव वक्ष्यमाणम् 'स्वादीयः' भोज्यान्तरापेक्षया स्वादुतरम्। 'यदधिगवं' क्षीरं च मांसं च। 'तदेव' एवशब्दस्तुशब्दस्यार्थे। तत् तु 'नाश्नीयात्' न खादेत्। अथवा एवकारो भिन्नक्रमः। तत् =उभयं नैवाश्नीयात् नाश्नीयादेव वा। एवकारस्त्रिविधः। विशेष्यसंगतः विशेषणसंगतः क्रियासंगतश्चेति। विशेष्यसंगतः—पार्थ एव धनुर्धरः। विशेषणसंगतः—शङ्खःपाण्डुर एव। क्रियासंगतः—नीलंकमलं भवत्येव। अत्रात्यन्तायोगव्यवच्छेदोऽर्थः।

इदमत्राकूतम्—कच्चिद् गृहस्थः कल्पयेत् यदहम् अतिथावशितवत्येव भोजनं करिष्यामि। परं यन्मम गृहे स्वादुतरं वस्तु अधिगवं क्षीरं वा मांसं वास्ति तदहं प्रथम गृह्णीयाम्। तत्राहुर्मन्त्रवर्णाः। स्वादुतरं वस्तु कदापि प्रथमो नाश्नीयात्। तत् तु पूज्यातिथये विशेषतः। एतत् यद् स्वादीयः अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा। तत् तु नाश्नीयादेव। स्वादु वस्तु प्रथममतिथये निवेदयेत्।

अथ किमिदं 'अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा' उच्यते—

गवि इत्यधिगवम्। यथा 'अधिहरि।' "अव्ययं विभक्ति०" शब्दानु०2।1।6॥ इत्यव्ययीभावसमासो विभक्त्यर्थे। 'अव्ययीभावे शरत् प्रभृतिभ्यः' शब्दानु० 5।4।107॥ इति समासान्तष्टच्।

चित्वादन्तोदात्तः। 'अधिगवम्'। अव्ययीभावसमासस्याव्ययत्वेऽपि अदन्तादव्ययीभावाद् विभक्तेर्नलुक् तस्यामादेशः अधिकरणविभक्तावव्ययीभावात्। अधिगवं क्षीरम् इत्यत्राधाराधेयभावो विवक्षितः। गवि यत् क्षीरं तदधिगवं क्षीरम्। अधिगवमिति 'क्षीरम्' इत्यनेनैव संबध्यते न 'मांसम्' इत्यनेन तत्राधाराधेयभावाभावात्। यथा स्थाल्यामोदनम् कटे देवदत्त आस्ते इत्यादौ आधाराधेययोः पृथक् स्थितिः। तथैव गवि यत् क्षीरं तत्रापि। गोः मांसस्य च प्रकृतिविकृतिभावो यथा घटमृत्तिकयोः। तस्माद् 'अधिगवम्' इति क्षीर विशेषणम् न तु मांसस्य विशेषणम्। मांसमिति स्वतन्त्रः कश्चित् पदार्थोऽत्र विवक्षितः। यत् तु वैदिकपदानुक्रमकोषकाराः 'अधिगवम्' इत्यत्र तत्पुरुषसमासमाहुः तेषां हृदयं त एव जानन्ति।

अथ मांसशब्दस्य कः पदार्थ इत्यत्र विचार्यते। अत्रेत्थमवबोद्धव्यम्—

सन्ति वैदिकाः शब्दा ये वेदेष्वर्थान्तरप्रयुक्ता लोकेऽर्थान्तरे व्यवह्रियन्ते किंचित्सामान्येन यथा विद्युदाद्यर्थेषु वेदे प्रयुक्तः 'अप्सराः' शब्दः लोके रूपवतीषु

वेश्यासु व्यवह्रियते रूपसामान्येन। उर्वशी अप्सरा इत्यत्र 'विद्युत्' इत्येव दुर्गस्कन्दादिभि-र्व्याख्यातम् द्रष्टव्य निरुक्त 5।13॥ नहि वेदेषु वेश्यावाचकः 'अप्सराः' शब्दः। तस्मादुक्तं वेदेऽर्थान्तरप्रयुक्ताः शब्दा लौकिकैरर्थान्तरेषु प्रयुज्यन्ते किंचित्सामान्येन। तथैव मांसशब्दो वेदेऽर्थान्तरे प्रयुक्ते लौकिकैरर्थान्तरेषु व्यवह्रियते किंचित्सामान्येन। अथ निरूप्यते वेदे कः मांसशब्दस्य पदार्थ इति।

पूर्वं निर्वचनसिद्धान्तं जानन्तु विद्वांसः। भिन्नप्रकृतिनिष्पन्ना अपि शब्दा अविसंवादिनो भवन्ति समानाकृतित्वादेकः शब्द इति प्रतीतिः। यथा 'चकार' इति करोति किरत्योः 'हरौ' इति हरिहरयोः नह्येकस्य 'चकार' पदस्य द्वावर्थौ—कृतवान् विक्षिप्तवान् वा। अत्र द्वयोः 'चकार' पदयोः द्वावर्थौ। तथैव 'हरौ' इत्यत्रापि द्वे 'हरौ' पदे। आकृतिश्च समानः तत्रायं सिद्धान्तः यावन्ति निर्वचनानि तावन्तः शब्दाः। अर्थाश्च सर्वेषां भिन्नाः। न च तेषां शब्दानामर्थानां च परस्परं कोऽपि सम्बन्धः। 'चकार' 'चकार' इत्यत्र कृतवान् विक्षिप्तवान् अर्थयोः नहि कश्चित् सम्बन्धः न च हरिशब्दस्य सप्तम्येकवचनस्य 'हरौ' इत्यस्य-अथ च हर शब्दस्य प्रथमा द्वितीया द्विवचनस्य कोऽपि परस्परं सम्बन्धः। एवम् अनुदारः= दारानुगतः, अनुदारः=उदारप्रतिकूलः। अप+वनम्=अपवनम् अ + पवनम्=अपवनम्। अव+सान=अवसान अ+वसानः=अवसान इत्यादौ ज्ञेयम्।

भाषान्तरेषु च दृश्यते—

Abode-From abide, meaning delay or dwelling place.

Abode-Or abeode-an conneted with the Primitive Verb, beodan, maening Prognostication or Fore-bode.

यत्त्वाह यास्कः—

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। अनवगतसंस्कारांश्च निगमात्। तदैकपदिकमित्याचक्षते। —निरुक्त4।1॥

अत्र निरुक्तभाष्ये एक शब्दप्रयोगो जातिदृष्ट्या।

एकशब्दस्यानेकनिर्वचनविषये सर्वे वेदभाष्यकाराः सायणादयः निरुक्तभाष्यकारा दुर्गस्कन्दादयः सर्वे भ्रान्ता एव। अथानेकनिर्वचनप्रसङ्गे विव्रियते—

ननु कथमेकस्य शब्दस्यानेकनिर्वचनस्य संभवः। अत्र केचिदाहुः परोक्षातिपरोक्षशब्देषु नियतनिर्वचनस्यानवधारणात् एवमुच्यते यथा—

लक्ष्मीर्लाभाद् वा लक्षणाद् वा लाञ्छनाद् वा
लषतेर्वास्यात्प्रेप्साकर्मणः लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणः लज्जते वा स्यादश्लाघाकर्मणः। - निरुक्त 4।9॥

अत्र न ज्ञायते एषां कतमो धातुर्लक्ष्मीशब्दे। अन्यतमानवधारणात् संभाविताः अनेके धातवः प्रदर्श्यन्ते। तथा चात्राह स्कन्दः–

अन्यतमावधारणे कारणाभावात्
एकस्यशब्दस्यानेकनिर्वचनस्य संभवः। –स्कन्द 1।1॥

दुर्गो ऽप्याह–

विशेषलक्षणव्यवस्थाभावात्। नहि तत्र विशेषलक्षणव्यवस्था काचिदस्ति ययैकोऽवतिष्ठेत अन्ये व्यावर्तेरन्।

–दुर्ग निरुक्त 1।1॥

डाक्टरविल्सनादयः पाश्चात्यास्तदनुयायिनो ऽ रविन्दसिद्धेश्वरवर्मादयश्च तु प्राच्यनिर्वचनानि काल्पनिकान्येवाहुः। यथा ऽऽहविल्सनः–

Agṇi-A grteat variety of etymologies are devised to explain the meaning of the term Agni, the most of which are obviously Fanciful.

–विल्सन ऋ. 1।1।11॥

अरविन्दोऽप्याह–

To rely entirely on the traditional and often imaginative rendering of the Indian Scholars is impossible for any critical mind.

- on the Vedas page 56

सिद्धेश्वरवर्माऽप्यत्र प्रजगाद–

Etymology of YASKA is nonsense

-Etymologies of YASKA, Page 10

साक्षात्कृतधर्मणो महर्षिस्वामिदयानन्दसरस्वती स्वामिनः

सिद्धान्तः–प्रतिनिर्वचनं शब्दो भिद्यतेऽर्थश्च तथा च यज्ञशब्दनिर्वचनप्रसङ्गे ऋग्वेदप्रथममन्त्रव्याख्याने यज्ञशब्दस्य निर्वचनानुसारं पृथक् पृथगर्था महर्षिणा प्रदर्शिताः। तथाहि–

(यज्ञस्य) इज्यते ऽसौ यज्ञस्तस्य–महिम्नः–

कर्मणः–विदुषां सत्कारस्य, सत्संगतस्य,
सत्संगत्योत्पन्नस्य विद्यादिदानस्य..... –ऋ.भा. 1।1।1॥

विस्तृतभाष्ये-जगत्-योगादिः –ऋ. 1॥1॥1

तत्रैवं व्यवस्था–'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातोः निष्पन्न एक यज्ञशब्दः

तस्य विदुषां सत्कारादिरर्थः। याच धातोर्निष्पन्नो द्वितीयो यज्ञशब्दस्तस्य 'महिमा' अर्थः। यजुः+उन्दी निष्पन्नस्तृतीयो यज्ञशब्दस्तस्य अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तो यज्ञ इत्यर्थः। यजु+नी निष्पन्नश्चतुर्थो यज्ञशब्दस्तस्यार्थः 'कर्म' अजिनशब्दान् निष्पन्नः पञ्चमो यज्ञशब्दस्तस्यार्थः विद्याविज्ञानयोगादिः। यज+जन् निष्पन्नः षष्ठो यज्ञशब्दस्तस्यार्थः 'जगत्' एवं हि यज्ञ-यज्ञ-यज्ञ-यज्ञ-यज्ञ-यज्ञ इति षड्यज्ञशब्दाः समानाकृतित्वाच्च एक यज्ञशब्द इति प्रतीतिः।

भाष्यकाराणामपरा च भ्रान्तिः वेदार्थनाशकरी यत् ते एकस्य शब्दस्यानेकानि सर्वाणि निर्वचनानि एकस्मिन्नेव वस्तुनि संगमयन्ति। तथाहि–

यज्ञशब्दस्याध्वरं केवलमर्थं कुर्वाणो दुर्गः सर्वाणि यज्ञनिर्वचनानि तस्मिन्नेव संगमयति। तथाहि–

याच्ञो भवतीति वा याच्यते ह्यत्र (अध्वरे)....अथवा यजुर्भिरयं (अध्वराः) उन्नः क्लिन्न इव भवति वहुत्वादत्र (अध्वरे) यजुषाम्। अथवा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यद् यद् अत्र (अध्वरे) दृश्यते प्रतिविशिष्टं साधनं किंचित् तत् कृष्णाजिनमिति यज्ञः। सोमे तावदजिनद्वयम्। यजमाने ऽप्यजिनद्वयम्...अथवा यजूंषि एनम् (अध्वरम्) उपक्रमादारभ्यान्तं नयन्तीति यज्ञः।

–दुर्ग निरुक्त 3।19॥

सर्वेषां भाष्यकाराणामियमेव मतिः। अपारोवर्यविदो हि ते पारोवर्यविन् महर्षिः।

मांसशब्दनिर्वचनान्याह यास्कः–

मांसं माननं वा। मानसं वा। मनोऽस्मिन् सीदतीति वा।

–निरुत्त4।3॥

मांसशब्दस्य त्रीणि निर्वचनानि। अतः त्रयो मांसशब्दाः मांस-मांस-मांस। समानाकृतित्वात् एकमांसशब्द इति प्रतीतिः। त्रयाणां मांसशब्दानां त्रयोऽर्थाः। न च तेषां त्रयाणां परस्परं कोऽपि सम्बन्धः। सर्वेऽर्थाः स्वतन्त्राः। तथा च व्याख्यायते–

माननम्=मा+अननं जीवनं यस्मिन् तत् मांसम् जीवनरहितं मृतम् यद् राक्षसैर्भुज्यते। इत्येकस्य मांसशब्दस्यार्थः।

अथ द्वितीयो मांसशब्दः–मानसम्=मनस आकर्षकम् मांसलोऽयं पुरुषः बलिष्ठ इत्यर्थः।

अथ तृतीयो मांसशब्दः–मनो ऽस्मिन् सीदति। मांसम् अति स्वादिष्टः कश्चित् पदार्थो यस्मिन् मनो लगति। मनः प्रियम् इत्यर्थः। एवम्–

मा+अन=मांस। मनस्=मांस। मन+सीद=मांस। त्रयाणां मांसशब्दानां तेषामर्थानां च न कश्चित् परस्परसंबन्धः। **"एतत् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा"** अस्मिन् मन्त्रे मा अननस्य जीवनरहितस्य पललस्य वर्णनं न क्रियते न वा मानसस्य मनस आकर्षकस्य मांसलस्य वर्णनम्। अत्र तु स्वादीय इति प्रसङ्गेन यस्मिन् मनो लगति तस्य वस्तुनो वर्णनम् तस्य वस्तुनो वर्णनम् तस्य स्वरूपमग्रेषु मन्त्रेषु पदार्थान्तराणां साहचर्यात् ज्ञायते। तथाहि–

क्षीरमुपसिच्य–अथर्व. 9।6।1॥, सर्पिरुपसिच्य–अथर्व. 9।6।2॥, मधूपसिच्य–अथर्व. 9।6।5॥, मांसमुपसिच्य अथर्व. 9।6।7॥, उपकमुपसिच्य–अथर्व. 9।6।9॥

अयं मांसाभिधः पदार्थः क्षीरसर्पिर्मधु उदकवत् कश्चित् सुगन्धः स्वादिष्टः तरल पदार्थः न तु घनपदार्थः। उपसेचनसाधनोऽयम्। यद् विषय उच्यते–

य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति। –यजु. 23।35॥

दुर्गादयस्तु गोमांसभक्षणं वैदिकं हृदि मन्यमाना मांसशब्दनिर्वचनव्याख्यामपि विसस्मरुः। तथा च दृश्यते।

मांसं माननं वा। य एव हि मान्यो भवति तदर्थमेतत् संस्क्रियते। मानसं वा सुमनसा हि तदुपादीयते। अथवा य एव हि मनस्विनो भवन्ति तैरुपादीयते। मनोऽस्मिन् सीदतीति वा सर्वस्यैव हि मांसे मनः सीदति॥ –दुर्गः

एषा हि यास्कनिर्वचनव्याख्याऽज्ञानविजृम्भणमात्रम्। एषां मते मांसं न राक्षसभोजनम् अपि तु आर्याणां मांसं भोजनं तच्च मान्याय पच्यते। मनस्विभिर्भुज्यते। अतिप्रियभोजनं मांसभोजनम्। विचित्रा मतिर्वेदभाष्यकाराणाम्। सर्वाणि मांसनिर्वचनानि एकस्मिन्नेव मांसभोजने संगमयन्ति च। निरुक्तज्ञानपरम्पराभ्रष्टा हि दुर्गादयः। अत्राचार्य विद्वांसोऽपि बभ्रभुः। तथाहि–

(मनो ऽस्मिन् सीदति) मन इस में जाता है मांस भक्षण को मन बहुत चाहता है। मांस की चाट ऐसी है कि जिसने एक या दो बार इसका सेवन कर लिया फिर उसका छूटना कठिन हो जाता है। –चन्द्रमणि विद्यालंकार निरुक्तभाष्य वेदार्थ दीपक

'निर्वचनानि विकल्पतो दत्तानि' इति वदन् सिद्धाञ्जनभाष्यकारो ऽरविन्दशिष्यः कपालिरपि तथैव।

अथ च तरलपदार्थग्रहणेऽपि अश् धातोः प्रयोगः यथा मधुपर्कं त्रिः प्राश्नाति। द्रष्टव्य (पारस्कर गृह्य. 1।3।19॥) तद्दृष्ट्यैव "अशकुम्भी" शब्दप्रयोगः 'पाना' इति भाषा। अतः अधिगवं क्षीरं नाश्नीयात् मांसं नाश्नीयात् न 'पिबेत्' इत्यर्थः प्रसिद्धं मांसं

तु भक्ष्यते न पीयते। अयं मांसाभिधः सुगन्धः नानाद्रव्यसंस्कृतः कश्चित् स्वादिष्टः तरलः पदार्थः।

पवित्रस्य विद्युतोऽर्थे वेदे प्रयुक्तस्य अप्सरा शब्दस्य अपवित्रासु वेश्यासु यथा कामुकैः रूपसामान्येन व्यवहारः कृतः तथैव सुगन्धयुक्तस्य स्वादिष्टस्य तरलपदार्थस्यार्थे प्रयुक्तस्य मांसशब्दस्य पिशितार्थेऽनार्यैः प्रयोगः कृतः स्वबुद्ध्यनुसारं स्वादिष्टं मत्वा। यदि मांसशब्दस्यैक एवार्थः स्यात् तदा तस्यैकमेव निर्वचनं स्यात् न तु त्रीणि। त्रयो मांसशब्दाः, तेषां त्रीणि निर्वचनानि त्रयश्चार्था इत्युक्तं प्राक्। मा अनन मांस, मनस् मांस, मन सीद मांस इतिप्रत्यक्षवृत्तिः।

भूयांसो ऽर्थाः अल्पीयांसश्च शब्दाः। किंचित्सामान्येनार्थान्तरे प्रयुज्यन्ते। यथा वंशः वेणुः वनशयनात्। पर्वसामान्यात् कुले ऽपि वर्तते। पुत्रेण पितुरपेक्षया श्रेष्ठतरेण भाव्यम्। अतः पुत्रशब्दस्य वेदेऽत्यन्तार्थे प्रयोगः। यवनैः मांसनिर्मितः पदार्थविशेषः पुलावशब्दवाच्यः। आर्यैः ओदनादिनिर्मितस्य पदार्थस्य मांसरहितस्यापि 'पुलाव' इति नाम कृतम्। तथैव वैदिकस्य मनः सीद शब्दस्य यवनैः दुर्व्यवहारः कृतः। भ्रान्ताश्च वैदिका मांस भक्षणं वैदिकं-मन्यन्त तथैव वेदशास्त्रवचनानि व्याख्यातवन्तः। सौभाग्यात् महर्षिणा पन्थाः प्रदर्शितः। अथर्ववेदे ऽतिथि-यज्ञप्रकरणे शोभनमुक्तम्-

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं
क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्।

अस्यायं निर्गलितोऽर्थः। स्वादुतरं वस्तु गोदुग्धं मनः सीद पदार्थं च अतिथेः पूर्वो नाश्नीयात् न पिबेत्। इति सुस्थम्।

✦✦✦

वैदिक-दर्शनम्

-म.म.डॉ. गोपालशास्त्री 'दर्शनकेसरी'

महर्षिदयानन्द-सरस्वती-महोदया हि दार्शनिकान् परस्परं विरुद्धवादानुपहसन्तो विविधं विमर्शमुपस्थापयन्ति। तेषां कथनमस्ति यद् दर्शनानां रहस्यज्ञानाय मूलसूत्रैः सह तेषामार्षं भाष्यमेव परिशीलनीयम्। तदाधारं तैर्यो दार्शनिकः सिद्धान्तः समाविश्चक्रे तस्याधः समुल्लेखो विधीयतेऽतिसंक्षेपेण।

1. त्रैतवादः। 2. जीवात्मपरिच्छिन्नवादः। 3. मुक्तेः पुनरावर्तनम्। 4. वैदिक-दर्शनानि सर्वाण्येव सेश्वराणि। 5. सर्वेषां च तेषां समन्वये तात्पर्यं न तु परस्पर-विरोधे। इति।

त्रैतवादः

त्रैतवादो हि डिण्डिमघोषं घुष्यते। अखिलब्रह्माण्डस्य मूलमुपादानकारणं प्रधानापरपर्यायं प्रकृतितत्त्वं तच्च सत्त्वरजस्तमसां साम्यमुच्यते। इत्येकं तत्त्वम्। द्वितीयं तत्त्वं तु भोक्तृरूपं जीवात्मतत्त्वम्। तृतीयं तत्त्वं तु तयोः प्रकृतिजीवात्मनोर्नियामकमीश्वरतत्त्वमिति। त्रयाणामनाद्यनन्तस्थितिरितीत्थं त्रैतवादः स्वभाव-सिद्ध एवास्ति यथार्थसत्तावान्। व्याप्तौ ज्ञाने आनन्दे सत्तायां चानन्ततामृतत्त्वं हि ब्रह्म ईश्वरः प्रजापतिः इत्यादिनाम्नाभिधीयते। सत्तायां याथार्थ्यम् व्याप्तावपरिमितं ज्ञानानन्दकर्मशून्यं हि तत्त्वं प्रकृतिरित्युक्तम्। सत्तायां याथार्थ्यम् व्याप्तौ ज्ञाने आनन्दे कर्मणि च स्वल्पत्वमणुत्वं च बिभर्ति तद्धि तत्त्वम् जीवः पुरुष आत्मेत्युच्यते। ब्रह्म हि आनन्दानन्त्यमनाद्यं ज्ञानानन्तत्वं सामर्थ्यानन्त्यमित्यादि-विशिष्टगुणशालित्वात् परमपुरुषः परमात्मा परमेश्वर इत्याद्यनन्तनामभिर्व्यपदिश्यते। इमानि त्रीणि तत्त्वानि स्वभावसिद्धानि शाश्वतानि सदैवेत्थमेव पृथक् तिष्ठन्ति। अतिष्ठन्। स्थास्यन्ति चेति सिद्धं तत्त्वत्रयम् शाश्वतम्।

ब्रह्मणाऽल्पज्ञस्य जीवस्य सृष्टिर्न क्रियते। यथा ब्रह्म स्वभावत एव सर्वज्ञं तथैव जीवोऽपि स्वभावत एवाल्पज्ञः, प्रकृतिश्च स्वभावत एवाज्ञेति त्रयाणामपि पार्थक्यसिद्धिः शाश्वतिकीति वेदज्ञविदुषां केषामपि विमतिरत्र नास्ति।

विश्वस्मिन् जडचेतनयोः शाश्वती स्थितिः पृथक् सत्ता च शाश्वतिकी स्वतन्त्रेति प्रत्यक्षसिद्धम्। न तयोः किमपि परस्परमेकम् अन्यस्मिन् परिणमते परिवर्तते वा जडं जडमेवेति चेतनश्चेतन एवेति नैव स स्वचैतन्यं जहाति। नापि जडं स्वजाड्यं विजहाति।

तत्र चेतनवर्गे एकः परमात्मा स्वतन्त्रः सर्वज्ञः सर्वकर्ता तद्भिन्नोऽल्पज्ञो भोगेऽस्वतन्त्र

एताभ्यां भिन्ना जडाऽज्ञा प्रकृतिः जडवर्गाणामुपादानकारणम् तद्धि भोज्यमुच्यते जीवोऽणुपरिमाणो भोक्ता परमेश्वरो विभुरभोक्तेति यथार्थभेद एतेषाम्।

भोक्ता जीवोऽपि देहेन्द्रियादिविशिष्टश्चेतनो भवति। उक्तमन्यत्रापि **'आत्मेन्द्रिय-मनायुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'** (कठ० 1।3।4) ईश्वरस्याभोक्तृत्वमेव सूचयति। स क्वापि कथमपि देहेन्द्रियभाक् नैव भवतीति।

अतश्चेश्वरस्यावतारो न सम्भवति नापि तत्प्रतिमास्तीति साकारमूर्तिपूजनादिकं सर्वमवैदिकं कर्मेति सिद्धमेवास्ति।

परमात्मनः प्रेरणया प्रकृत्युपादानकं विश्वं भोग्यं जीवात्मनो भोक्तुः कृते परिणमते। **संहतपरार्थत्वात्** (सां.सू. 1।105) इदं हि विविधं वैशिष्ट्यं परमेश्वरस्याभोक्तृत्वम् जीवात्मनो भोक्तृत्वं प्रकृतेर्जडाया भोग्यत्वमेव त्रयाणां पार्थक्ये मूलम्। एषामेव त्रयाणां वेदेषु चतुर्ष्वपि पार्थक्येन विस्तृतं वर्णनमुपलभ्यते। ऋग्वेदस्यैको मन्त्र इह निर्दिश्यते–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

– (ऋ. 1।164।20)

अस्मिन् मन्त्रे भोक्तुर्जीवस्याभोक्तुः परमेश्वरस्य भोग्यायाश्च प्रकृतेः फलयुक्तस्य वृक्षस्य रूपकेण वर्णनं दृश्यते। एतदनुरूपमेव श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते–

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

–(श्वे० 1।12)

छान्दसोऽदन्तो ब्रह्मशब्दः। भोक्ता भोग्यं प्रेरितेति त्रीण्येवानादितत्त्वानि सर्ववेदेषु गीयन्ते।

षड्दर्शनानि वैदिक्यश्च चतस्रः संहिता उपनिषदश्चैकादश एतेषामेव त्रयाणां तत्त्वानां प्रतिपादनं बहुधा कुर्वन्तीति वेदविदुषामतिरोहितम्।

जीवात्मनः परिच्छिन्नवादः

जीवात्मा न विभुरस्ति नापि मध्यमपरिमाणः किन्तु स हि अणुरित्येव वेदेषु भिन्न-भिन्नवैदिकशास्त्रेषूपलभ्यते। योगदर्शनस्य व्यासभाष्ये महर्षेः कपिलस्य प्रशिष्य आचार्यः पञ्चशिखो वक्ति–

'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते।'

अयं हि योगिनोऽनुभवः समाधावेवमात्मानं परमाणुं पश्यतीति तादृशमेव ब्रूते न्यायदर्शनस्य वात्स्यायन भाष्येऽपि–

"अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञान-प्रबन्धं स्मृति-प्रबन्धं च प्रतिसंधत्ते इति। यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवतीति॥" (वात्स्या०भा० 3।1।15)

इत्यनेन सूच्यते यस्मिन्देहे जीवात्मा तिष्ठति तत्र परिच्छिन्नस्तिष्ठति।

उपनिषत्स्वपि अणुत्वेनैव जीवात्मायं निर्दिश्यते। तथाहि मुण्डकोपनिषदि श्रूयते–

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः। (मु० 3।1।9)

श्वेताश्वतरोपनिषद्यपि एष भावः स्फुटं विवृतोऽस्ति–

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागः जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (श्वे. 5।9)

मुक्तेः पुनरावृत्तिवादः

यद्यपि दर्शनेषु–

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। (न्या. 1।1।22)

अथ त्रिविध-दुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। (सां.सू.1।1)

इत्यादि-सूत्रैः सर्वदुःखानां हि अत्यन्तनिवृत्तिरेव मुक्तिरभिहिताऽस्ति। तथैव जनेषु धारणाऽप्यस्ति यन्मुक्तेर्न कोऽपि परावर्तत इति। परन्तु मम दृष्टौ तत्रात्यन्त-शब्दोऽत्यधिकार्थे विद्यते न तु अनन्तार्थे यतोहि अल्पज्ञो अल्पशक्तिर्जीवोऽनन्तकालावधि ब्रह्मानन्दं भोक्तुं कथमपि समर्थो न स्यात्। ममास्य विचारस्य पोषिका मुण्डकोपनिषद्विद्यते। सा हि स्पष्टं मुक्तेः परावर्तनं ब्रूते तथाहि–

वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध-सत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु.उ. 3।2।6)

अत्र मुक्तिस्थितिकालस्य परान्त इति संज्ञास्ति। ततो मुक्तिस्थितिकालस्य समाप्तिरेव परान्तकालशब्देन सूच्यते। परान्तकाले मुक्तिस्थितिकालसमाप्तौ परामृतान्मुक्तेः सर्वे मुच्यन्ति निवृत्ता भवन्ति। अत्र परस्मैपदं छान्दसम्। मुच्यन्ते ततोऽध आयान्तीत्यर्थः। अत्र परामृता इति पाठस्तु प्रामादिकः। यतो हि नारायणोपनिषदि (12।3) द्वादशाध्याये तृतीयमन्त्रे पञ्चम्यन्तः **परामृतात्** इत्येव पाठस्तथा सूतसंहितायाः सायण-माधव-कृत-व्याख्यायां मुण्डकोपनिषद एवोद्धृतोऽयं श्लोकोऽस्ति। तत्रापि परामृतादिति पञ्चम्यन्तः पाठ एवोपलभ्यते। अतश्च पञ्चम्यन्तपाठस्य प्राबल्यात् परामृतादिति पाठः प्रामाणिकः, प्रथमान्तपाठः (परामृताः) प्रामादिक इति सुस्पष्टम्। मीमांसका अपि तदीयं मतं समर्थयन्ति। निःश्रेयसमेव तेषां मुक्तिस्तेऽपि ततः परावर्तनं मन्यन्ते। तथाहि गीताशास्त्रे नवमेऽध्याये एकविंशं पद्यम्–

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते। (गीता 9।21)

इत्यनेन सूच्यते यथा मीमांसकानां निःश्रेयसं लब्ध्वाऽपि ततः परावृत्तिं लभते जीवात्मा स्वकृतकर्मणः क्षयात् तथैव यस्य सिद्धान्ते जीवात्मनः सततं शाश्वतमल्पज्ञत्वं तस्य तु अल्पज्ञस्य मुक्तिरपि सावधिरेव स्याद्। यतो हि अल्पज्ञतया अल्पसामर्थ्याच्च न हि स शाश्वतं ब्रह्मानन्दं भोक्तुं समर्थ इति साधूक्तं **महर्षिदयानन्दसरस्वतीमहाभागेन** जीवात्मानो मुक्तेः परावर्तन्त इति। **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः** 1।1।22 इत्यादि-न्यायादिदर्शन-सूत्रेषु अत्यन्तशब्दोऽत्यधिकार्थ-वाचक एव न तु अनन्तार्थ इति तथ्यम्।

महर्षिकपिलोऽपि मुक्तेः पुनरावृत्तिं सूचयति प्रथमाध्याये–(159) ऊनषष्ट्युत्तरशततमे सूत्रे तत्र दृशेलिमम् पाठकैरिति संक्षेपः।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः। (सां.सू. 1।159)

यथा हि जगच्चक्रमनादिकालादविच्छिन्नं प्रचलति तथैवाग्रेऽपि चलिष्यत्येव नह्यस्य कदापि शाश्वतिको विच्छेदः। इत्यनेन सूच्यते यत्तेनाऽपि मुक्तेः पुनरावृत्तिरभिहितैवेति शम्।

सर्वाण्यपि वैदिकर्शनानि सेश्वराणि

सर्वेष्वपि वैदिकदर्शनेषु ईश्वरसिद्धिर्विहिताऽस्ति। क्वापि नहि तस्य खण्डनम्। व्याख्यातृणां प्रमादात्सांख्ये वैशेषिके मीमांसायां च साम्प्रतिकानां भ्रमो विद्यते यत्तत्र नास्ति परमेश्वरचर्चेति। तत्र ते **'ईश्वरासिद्धेः'** (1।92) इति सांख्यसूत्रं निदर्शयन्ति। किन्तु तस्य सूत्रस्यार्थज्ञाने तेषां भ्रान्तिः। यतो हि तत्सूत्रम् ईश्वरस्योपादानकारणतां निषेधति। तथाहि ईश्वरस्य असिद्धेः जगदुपादानकारणताऽसिद्धेः, ईश्वरो नहि जगत उपादानकारणं स हि निमित्तकारणमेवेति सूत्रार्थः। अस्यैवार्थस्य वैशद्यम् **'तत्सन्निधानाद-धिष्ठातृत्वं मणिवत्'** (सां. सू. 1।96) **'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता'** (सां. सू. 3।56) **'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'** (सां. सू. 3।57) पुनश्च पञ्चमाध्याये द्वितीयसूत्राद् द्वादशसूत्रावधि ईश्वरसिद्धिविषयो दृश्यते।

वेदस्य कर्मकाण्डात्मकभागस्य पोषिके भारद्वाज-जैमिनिमीमांसे संमिलिते भूत्वा पूर्वमीमांसेत्युच्यते। मध्यमीमांसा दैवीमीमांसा च डिण्डिमघोषमीश्वरं स्वीकुरुतः। तत्र केवलं जैमिनीयाख्य-पूर्वमीमांसायान्तु कर्मणः प्राधान्यप्रतिपादने प्रयोजनमिति प्रसङ्ग एव नोपतिष्ठते ईश्वरसिद्ध्यसिद्धये इति कथं कथयामो मीमांसका नेश्वरं मन्यन्ते इति। अग्रेतना भ्रान्ता विद्वांसो 'मुखमस्तीति वक्तव्यम् दशहस्ता हरीतकी' इतिवत् यत् किञ्चज्जल्पन्तु नाम कः शृणोति खपुष्पपुराणम्।

वैशेषिक-दर्शने (10।2।9) दशमाध्याये द्वितीयपादस्य नवमसूत्रे ईश्वरसत्तायां

वैदिकं प्रमाणं प्रत्तं विद्यते। तथैव बहुत्र विषयेऽस्मिन् वैशेषिक-सूत्राणि द्रष्टव्यानि यथा प्रथमाध्याये प्रथमपादे तृतीयसूत्रम्। तथा द्वितीयाध्याये प्रथमपादेऽष्टादशं सूत्रं द्रष्टव्यम्। एवमेव वैशेषिकदर्शनस्य प्रशस्तपाद-भाष्यस्य सर्गोत्पत्तिप्रसङ्गे जगत्कर्तृत्वरूपेणेश्वर-स्योल्लेखोऽस्ति। इत्येवं सर्वत्रैव दर्शनेषु ईश्वरसिद्धिः प्रतिष्ठितास्ति। तत्र वैशेषिकास्तु **"प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः"** सिद्धान्तः-मुक्तावली-प्रभृतिग्रन्थेषु क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवदित्यादिना सुदृढाद्यनुमानेनेश्वरं साधयन्ति। उदयनाचार्य्यस्य ईश्वरसिद्धौ न्यायकुसुमाञ्जलिर्नामग्रन्थः प्रसिद्धोऽस्ति।

तथाहि–

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्-संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ (न्या.कु.5।1)

अस्यार्थः–कार्यम् आयोजनं कर्म, धृतिः आदिर्यस्य स तस्मात्। पद्यतेऽनेनेति पदम्=व्यवहारः तस्मात्। प्रत्ययः=प्रमाणम् तस्मात्। श्रुतेः=वेदात्। वाक्यात्=वेदवाक्यात्। संख्याविशेषात्=संख्याजन्यपरिमाणविशेषात् संख्याजन्यं द्व्यणुकपरिमाणमित्यर्थः। तस्मात् विश्ववित् ईश्वरः स च अव्ययः नित्य एव साध्योऽनुमेयः। तत्रानुमानप्रकारोऽपि विस्तृतं विवृतोऽस्ति। मनागिहापि निर्दिश्यते–

1–क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्। 2–परमाणुद्वय-संयोगजनकं कर्मचेतन-प्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वात् अस्मदादि-शरीर-कर्मवत्। 3–ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवदधिष्ठितम् धृतेः गगने पक्षिधृततृणवत्। 4–ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यम् विनाशित्वात् घटवत्। 5–वेदज्ञानं कारणगुण-जन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमाणवत्। 6–वेदः पौरुषेयः वेदत्वात् आयुर्वेदवत्। 7–वेद-वाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादि–वाक्यवत्। 8–द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् कपाल- द्वयारब्ध-घट-परिमाणापेक्षया कपालत्रयारब्ध-घट-परिमाणवत्।

इत्येवमष्टाभिरनुमानैस्तत्रेश्वरो नित्योऽनुमितो विद्यते। तत्र कणेहत्य दृशेलिमः सः। बौद्धानां राज्यशासनकाले परेशं खण्डयत्सु तेषु ईश्वरस्तु उदयनाचार्यस्यैव प्रभावाद् भारते प्रतिष्ठितोऽभूदिति महती प्रसिद्धिरार्येषु।

तथा च उदयनेन कुसुमाञ्जलिग्रन्थान्ते प्रोक्तमपि–

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।

किन्तु प्रस्तुतविप्रतीप-विधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥17॥

अस्माकं तु निसर्ग-सुन्दर! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते।
तन्नाथ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः॥18॥

किं बहुना 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यत्र आत्मा उदयनार्यदृष्टौ ईश्वर एव गृहीतः। तस्यैव हि दर्शने हेतवः श्रवणं मननं निदिध्यासनमिति। सुतरामुक्तं तेन न्यायकुसुमाञ्जलौ ग्रन्थप्रणयनं नाम मननं मया क्रियते आत्मनः परमेश्वरस्य न्या. प्रथमस्तवके तृतीयं पद्यम्–

न्यायचर्चेयमीशस्य मनन-व्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणान्तरागता॥ (न्या.कु. 1।3)

स्मृतिश्चास्ति–

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥ (न्या.कु. 1।3)

षड्दर्शनसमन्वयः

षड्दर्शन-समन्वयमपि महर्षिः स्वदिशा साधु समादिशति तथाहि–

बहुधा जनेषु प्रवादोऽस्ति यद् भारतीय-वैदिकानि षड्दर्शनानि परस्परं विरुन्धन्तीतीयं धारणा निर्मूलैवास्ति। नास्ति काऽपि भित्तिरस्या धारणायाः, यतो हि सूत्रकारेषु न दृश्यते क्वापि तादृशी प्रवृत्तिः। ते हि केवलं स्वीयम् **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा** (यो. द. 1।48) इति पातञ्जलसूत्रनिर्देशात् ऋतम्भरया प्रज्ञयानुभूतं मन्तव्यमेव निर्दिशन्ति सूत्रसङ्घैः, न ते परस्परं विरोधलेशमपि प्रदर्शयन्ति।

दर्शनेषु परस्पर-विरोधं तु व्याख्यातार एवोत्थापयन्ति तद्भित्तिं च स्व-व्याख्यया द्रढयन्ति। दर्शनसूत्रकारा महर्षयो हि दर्शनसमन्वयं यथा विदधति तद्धि अद्भुतं चमत्कारं जनयति। पश्यन्तु पाठका महर्षिभिः कृतं दर्शनसमन्वयं तत्प्रकारत एव तथाहि– "मीमांसासिद्धान्ते जगतः सर्वमपि कार्यं कर्मसाध्यमेवोच्यते।" तथैव तत्सूत्रम् **"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्"** इति।

न्याये कारणत्रैविध्यनिरूपणम्। सांख्ये चतुर्विंशतिप्रकृतितत्त्वानां विवेचनम्। योगे **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (1।3) इति आत्मस्वरूपनिरीक्षणाध्यवसायः। वेदान्ते च 'तस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः .....' इत्यादिना सृष्टितत्त्वनिरूपणम्। सर्वोपनिषद्वाक्यानां पुष्पमालावद् सूत्रपुष्पैरेकत्र ग्रथनमेव। षड्भिः कर्मभिः षणामङ्गानामवयवानां पूरणेन

जगन्निर्माण-प्रदर्शनमेव सूत्रकाराणां प्रधानं कर्म दृश्यते। नहि तत्र क्वापि परस्परं विरोध-चर्चा दृश्यते।

एकस्यैव वस्तुनोऽन्यथाऽन्यथानिरूपणेन विरोधोपस्थानं भवति। अत्र तु सर्वेऽपि महर्षयः स्वानुभूत्या सर्वेषां जगत्साधनानां समन्वयं परस्परं कुर्वन्त एव स्वमन्तव्यं प्रकाशयन्ति–

यथाहि न्याय-वैशेषिकौ सृष्टेः स्थूलतत्त्वविवेचनं कुरुतः। सांख्याचार्या हि सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वानां विवेचनं कुर्वन्ति। पतञ्जलिः प्रकृति-पुरुषयोर्जडचेतनयोः पार्थक्यं विवृणुते। उभे अपि समानतन्त्रे सांख्ययोगदर्शने परस्परं विषयभेदनिरूपणाद्विभिन्ने। तथैव न्यायवैशेषिकदर्शने अपि वैशेषिकं स्थूलतत्त्वानां क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमादीनां नैयायिकं दर्शनं प्रमाणादिषोडशपदार्थतत्त्वनिरूपणाद्विशेषतो हि उद्देशलक्षण-परीक्षामात्रप्रदर्शनात् परस्परं भिद्येते। तथैव पूर्वमीमांसा जैमिनीया कर्मविपाकनिरूपणेन समाज-संघटनकर्मविधानादुत्तर-मीमांसा च बादरायणीयं वेदान्तदर्शनं चतुर्वेदप्रतिपाद्य-ब्रह्मतत्त्वनिर्वचनादेव परस्परं भिद्येते।

इत्थं षण्णामपि दर्शनानामेवं समन्वय-विधानम्। श्रीमहर्षिज्ञानानन्दयोगिराजमते सप्तानामिति वाच्यम्। एतेन प्रतीयते यत् सर्वेऽपि महर्षयः स्वस्व-दृष्टिभिरेकमेव जगच्चक्रमीश्वरकर्तृकं निरूपयितुं प्रवृत्ताः। न तत्रोच्चावचादिविचारणा प्रसरति। इयं हि गर्हिता धारणा यद् न्यायवैशेषिकदर्शने हीनकोटिके दर्शने। उच्चतमकोटिकं तु वेदान्तदर्शनमेवेत्यादि। सर्वाण्येव दर्शनानि स्वानुभूति-सिद्धपदार्थ-निरूपकाणि। यथाहि लोके विविधानि जीवनसाधनानि तथैव शास्त्राण्यपि विविध-जनरुचिवैचित्र्यात् भिन्नानि। उक्तमपि पुष्पदन्तयक्षेण महिम्नस्तोत्रसारे–

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव। इति।

एवं स्थितौ न किमपि न्यूनं नापि तदितरद् दर्शनं ततोऽधिकं सांख्य-पूर्वमीमांसादर्शने नेश्वरं मन्वाते। योगदर्शनं पुरुषविशेषमेवेश्वरं वक्ति इत्यादि अज्ञजनवन्मिथ्या कल्पना सर्वथापाहरणीया। बहुधा बहुभिः स्वस्वदिशा समन्वयितान्येव दर्शनानि। मयापि पूर्वमुक्तमेव– हन्तुं बौद्धोऽन्वधावत्तदनु कथमपि स्वात्मलाभः कणादादित्यादि।

पाठ्यग्रन्थनिर्देशः

महर्षिदयान्दसरस्वतीमहोदयेनार्षग्रन्थाध्ययनाय कियतां ग्रन्थानां नामान्यपि निर्दिष्टानि तत्तु सत्यार्थप्रकाशपुस्तके तृतीये समुल्लासे द्रष्टव्यम्। इहापि कतिपयानां नामनिर्देशः क्रियते। तथाहि पाणिनेरष्टाध्यायीपतञ्जलेर्महाभाष्यमिति ग्रन्थद्वयमेवार्षव्याकरणेऽध्येयम्। ततो हि षण्णां दर्शनानां सूत्राणि तेषामार्षभाष्याणि चाध्येयानि। वेदानामध्ययनं सर्वैरेव पुरुषैः स्त्रीभिर्वा सर्वथा श्रद्धया विश्वासेन विधेयम्। तथैव वेदाज्ञा विद्यते–

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।

—(यजु. 26।2)

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।'—(अथर्व. 11।5।18)

श्रौत्रसूत्रादिषु 'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' इत्यादिलिङ्गनिर्देशात् स्फुटं स्त्रीणां वेदाध्ययनं प्रतीयते। पुराकाले गार्गी मैत्रेयी आत्रेयी प्रभृतयो बहवः स्त्रियो वेदविदुष्यो बभूवुः। उत्तररामचरितनाटके भवभूतिरपि स्त्रीणां वेदाध्ययनं वक्ति—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्त-विद्यां वाल्मीकि-पार्श्वादिह पर्य्यटामि॥

बौद्धकालीनायाः विज्जकायाः गर्वोक्तिः प्रसिद्धैव—"नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता। वृथैव दण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती" इति स्त्रीणां वेदाध्ययने बहूनि प्रमाणानि सन्तीत्यलम्।

महर्षिदयानन्दसरस्वती-सिद्धान्ते चतुर्णां वेदानां संहिताभागस्यैव वेदसंज्ञा, स्वतः प्रामाण्यं च। ईश्वर-प्रेरणया ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः शाखाविभागेन 1127 सप्तविंशत्युत्तरैकादशशतानि शाखा विभजन्ति। ततो ब्राह्मणग्रन्था आरण्यकानि उपनिषदश्च ऋषिप्रोक्तानि परतः प्रामाण्यं च तेषां स मनुते। तेषु ब्राह्मणग्रन्थानां पारिभाषिकी वेदसंज्ञा तथैवारण्यकानि उपनिषदश्च वेदानुकूलतयैव प्रामाण्यमञ्चन्ति। वेदे सर्वेऽपि यौगिकाः शब्दाः सन्ति। न तत्र रूढिशब्दो नापि कोऽपीतिहासस्तत्र तन्नये विद्यते।

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थ-विशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।

(म.भा. 3।3।1)

इत्यादि प्रमाणतो निरुक्तदिशैव स वेदार्थं तनोति। सर्वेषामेव मन्त्राणामाध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं त्रिविधमर्थं मनुते सः। वेदे महीधरादीनामश्लीलार्थं तथेतिहासादिकं नाङ्गीकरोति। स हि वैदिकयज्ञेषु पशुहिंसां न मनुते। **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** इति हि प्रमाण-वाक्यं तस्य।

स हि वेदे एकस्येश्वरस्यैव पूजामर्चां मनुते, न विविधानां नापि मूर्त्तिपूजां समर्थयति। नाप्यवतारवादं नैव जन्मना वर्णव्यवस्थां स्वीकरोति। मृतकश्राद्धादिबाह्याडम्बरस्य अनौचित्यं प्रतिपादयन् "पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः" इति मनूक्तान् एव पञ्च महायज्ञान् समर्थयति तथाहि—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु. 3।70)

इत्यादि सर्वमनूक्तं विधिं ते समर्थयन्ति। किं बहुना–

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां।
तेनेशस्य विधीयतामपचितिर्वर्णाश्रमः सेव्यताम्॥

राष्ट्रं चाद्रियतां प्रसू-जनकयोराज्ञा समाधीयताम्।
सम्मानेन सुशिक्षया च सततं कन्याकुलं सिच्यताम्॥

वेदः सर्वविद्यानामाश्रयः। वेदस्यं पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणं च आर्याणां परमो धर्म इति महर्षिस्वामिदयानन्दसरस्वतीवर्यस्य स्वरचितमेकं पद्यमिति तद्विलिख्य विरम्यते–

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम्।
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी॥

वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा।
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥1॥

एकमस्माकमपि स्रग्धरा छन्दसा पद्यम् स्वामि-सम्बन्धे–

स्वामी ब्रह्मर्षिरेव प्रहित इह भुवि ध्वस्त-सन्मार्ग-लोकान्।
उद्धर्तुं वेदवाक्यैः सुविवृति-वितते र्वेदवित् त्रैतवादी॥

सर्वान् पुंसः स्त्रियो वा निरुपधि विमले वेदभागे प्रवेष्टुम्।
ब्रूते सत्यार्थ-शास्त्रं व्यवहृतिनिपुणोऽद्वैतवादो न हेयः॥1॥

ब्रह्मा और सरस्वती

-अरुण उपाध्याय

बिहार

(1) ब्रह्मा का पुत्री सरस्वती से सम्बन्ध- ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराण में एक कथा है कि ब्रह्मा का अपनी पुत्री सरस्वती से अवैध सम्बन्ध था जिससे वे निन्दित हुए। किन्तु यह मनुष्य रूपी ब्रह्मा या सरस्वती के विषय में नहीं है, आकाश में सृष्टि के तत्त्वों का वर्णन है जो मूल उदाहरणों से स्पष्ट है। पण्डित मधुसूदन ओझा तथा उनके शिष्य पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने ऐसी कथाओं को असद् आख्यान कहा है। जैसे ग्लोब दिखा कर या कागज पर वृत्त बनाकर पृथ्वी के बारे में समझाते हैं। पृथ्वी बहुत बड़ी है किन्तु आकार के विषय में अनुमान करने के लिए यह आवश्यक है। एक अन्य कारण है कि सृष्टि आकाश में हुई, किन्तु वस्तुओं का नामकरण पृथ्वी पर हुआ। भौतिक शब्दों के अर्थ का विस्तार 7 संस्थाओं में हुआ-आध्यात्मिक (शरीर के भीतर-योग, तन्त्र, आयुर्वेद), आधिदैविक (आधिज्योतिष, प्राण शक्ति), आधिभौतिक (पृथ्वी पर भौगोलिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक, औद्योगिक शब्द)। इनको 7 संस्था कहा गया है। अतः आकाश के तत्त्वों के वही नाम दिए गये, जो पृथ्वी की वस्तुओं के हैं। पृथ्वी पर गङ्गा नाम की नदियां हैं, पर आकाशगङ्गा ब्रह्माण्ड के भीतर एक चक्र है जो प्रायः 1 मन्वन्तर में 1 परिक्रमा करता है। दोनों को एक मानने से भ्रम होता है। मनुष्य रूप में सरस्वती किसी स्त्री का नाम हो सकता है, पर विद्या रूप सरस्वती सबके भीतर अव्यक्त है। आकाश की सरस्वती उनसे भिन्न है।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ (मनुस्मृति, 1/21)

ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवा-निशम्।
अनादि-निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा॥

नाना रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्।
वेद शब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः॥

(महाभारत, शान्ति पर्व, 232/24-26)

यास्सप्त संस्था या एवैतास्सप्त होत्राः
प्राचीर्वषट् कुर्वन्ति ता एव ताः।

(जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् 1/21/4)

छन्दांसि वाऽअस्य सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त योनीरिति चितिरेतदाह।

(शतपथ ब्राह्मण, 9/2/3/44, वाज. यजु, 17/79)

अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च। (तत्त्व समास, 7)

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥1॥

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः॥3॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषस्याधिदैवतम्। (गीता, अध्याय 8)

ज्ञान की उत्पत्ति द्रविड़ में हुई, किन्तु उसकी वृद्धि (अर्थ का विस्तार) कर्णाटक में हुई। श्रुति-ज्ञान कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों से आता है, अतः उसकी वृद्धि का स्थान कर्णाटक हुआ। अप् या द्रव जैसे ज्ञान का उद्भव स्थान द्रविड हुआ।

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञान वैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥45॥

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥48॥

(पद्म पुराण उत्तर खण्ड श्रीमद् भागवत माहात्म्य, भक्ति-नारद समागम नाम प्रथमोऽध्यायः)

(2) **ऐतरेय ब्राह्मण आख्यान**-नीचे अनुवाद सहित मूल उद्धरण दिया है, जिससे स्पष्ट है कि यह आकाश के नक्षत्रों के विषय में है।

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्-दिवमित्यन्ये आहुः, उषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तं देवा अपश्यन्-अकृतं वै प्रजापतिः करोति, इति।।

ते तमैच्छन्-य एनमारिष्यति। एतमन्योऽन्यस्मिन्नविन्दन्। तेषां या एव घोरतमास्तन्व आस्, ता एकधा समभर्। ताः सम्भृता एष देवोऽभवत्, तदस्यैतद् भूतवन्नाम-इति।।

तं देवा अब्रुवन्-अयं वै प्रजापतिरकृतमकः, इम विध्येति। स तथेत्यब्रवीत्। स वै वो वरं वृणा इति, वृणीष्वेति। स एतमेव वरमवृणीत-पशूनामाधिपत्यम्। तदस्यैतत् पशुमन्नाम। इति।। तमभ्यायत्याविध्यत्। स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्। तमेतं मृग इत्याचक्षते।

य उ एव मृगव्याधः स उ एव सः। या रोहित्, सा रोहिणी। या उ एवेषुस्त्रिकाण्डा, सा एवेषुस्त्रिकाण्डा-इति।। (ऐतरेय ब्राह्मण, 13/9)

= प्रजापति ने अपनी लड़की को (देखकर भार्या के रूप में सींचा। इसे कुछ ऋषि द्युलोक की देवता कहते हैं, और कुछ अन्य उषा देवता कहते हैं। वे प्रजापति हरिण होकर रोहित (हिरणी या ऋतुमती) हुई (दुहिता) के पास गये। उस (दुहितृगामी प्रजापति) को देवों ने देखा और परस्पर कहा-'ओह, प्रजापति अकृत-कर्म (निषिद्ध आचरण) करता है'-ऐसा विचार कर उन्होंने (ऐसे पुरुष को) खोजा जो इस (प्रजापति) को मारने में समर्थ हो। किन्तु अपने लोगों के बीच में किसी को भी नहीं प्राप्त किया। तब उनमें जो घोरतम (उग्र) शरीरांश था, उसे एक जगह एकत्र किया। वह सब एकीकृत हो कर यह देव (रुद्र) उत्पन्न हुए। इसीलिए उस (रुद्र) का भूत शब्द से युक्त (भूतपति) नाम हुआ।

उन (रुद्र) से देवों ने कहा-' इस प्रजापति ने अकृत-कर्म किया है, अतः इसे विद्ध करदो।' उन (रुद्र) ने वैसा ही किया। तब उन (रुद्र) ने कहा-मैं आप लोगों से एक वर का वरण करता हूँ। उन्होंने कहा-वरण कर। उन (रुद्र) ने यही वर मांगा कि मैं पशुओं का आधिपत्य प्राप्त करूँ। इसीलिए रुद्र का नाम पशु शब्द से युक्त (पशुपति) हुआ।

उस (प्रजापति) को (रुद्र ने बाण युक्त) धनुष को खींच कर मारा। विद्ध हुआ वह प्रजापति ऊपर को उछला। उस (आकाश में ऊपर उछले हुए प्रजापति) को अभिज्ञ जन (रोहिणी और आर्द्रा नक्षत्र के मध्य अवस्थित) मृगशिरा नक्षत्र कहते हैं। जिस (मृग-घाती रुद्र) ने उसको मारा, वह मृगव्याध हुआ। जो (दुहिता) लाल वर्ण की (हिरणी) थी, वही आकाश में रोहिणी हुई। (रुद्र का) जो बाण तीन धारों वाला था, वह तीन नोकों वाला भाग (इषु-त्रिकाण्डा) हो गया।

(3) शतपथ ब्राह्मण-यहां भी नक्षत्र सम्बन्धी ही चर्चा है। जब सूर्य रोहिणी, मृगशिरा नक्षत्रों में जाता है तब अग्नि का आधान (यज्ञ का आरम्भ) उपयुक्त है या नहीं, इस प्रसंग में ब्रह्मा-सरस्वती कथा का निर्देश है।

रोहिण्यामग्नी ऽआदधीत। रोहिण्यां ह वै प्रजापतिः प्रजाकामो ऽग्नीऽआदधे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तब्धास्तस्थू रोहिण्य इवैव तद्वै रोहिणीत्वं बहुर्हैव पशुभिर्भवति- य एवं विद्वान् रोहिण्यामाधत्ते।।6।।

रोहिण्यामु ह वै पशवः। अग्नीऽआदधिरे मनुष्याणां कामं रोहेमेति। ते मनुष्याणां काममारोहन्। यमु हैव तत् पशवो मनुष्येषु काममारोहन्, तमु हैव पशुषु कामं रोहति-य एव विद्वान् रोहिण्यामाधत्ते।।7।।

मृगशीर्षेऽग्नी आदधीत। एतद्वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षम्। श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्मात्-योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति, असावमुष्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः। श्रियं ह गच्छति-य एवं विद्वान् मृगशीर्ष आधत्ते।।8।।

अथ यस्मात्-न मृगशीर्ष आदधीत। प्रजापतेर्वा एतच्छरीरं यत्र वा एनं तदविध्यँस्तदिषुणा त्रिकाण्डेनेत्याहुः। स एतच्छरीरमजहात्। वास्तु वै शरीरमयज्ञियं निर्वीर्यं। तस्मात्-न मृगशीर्ष आदधीत।।9।।

तद्वै दधीत। न वा एतस्य देवस्य वास्तु, नायज्ञियम्, न शरीरमस्ति, यत् प्रजापतेः। तस्मादैव दधीत। पुनर्वस्वोः पुनराधेयमादधीतेति।।10।।

= रोहिणी नक्षत्र में भी अग्न्याधान करे। क्योंकि रोहिणी नक्षत्र में ही सन्तान के इच्छुक प्रजापति ने अग्न्याधान किया था, उससे प्रजा सृजी और वह प्रजा एक रूप और ठीक रही, रोहिणी (लाल गाय) के समान। इसलिए रोहिणी नक्षत्र रोहिणी गौ के समान है। इसलिए जो कोई इस रहस्य को समझ कर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है, वह सन्तान और पशुओं से फूलता फलता है।।6।।

रोहिणी नक्षत्र में ही पशु अग्नियों का आधान करते हैं कि मनुष्यों की इच्छा तक चढ़ सकें (रोहेम)। उन्होंने मनुष्यों की कामनाओं तक रोहण किया। और जो कामना पशुओं की मनुष्यों के प्रति पूरी हुई, वही पशुओं के प्रति उसकी पूरी होगी। जो इस रहस्य को समझ कर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है।।7।।

मृगशीर्ष नक्षत्र में भी अग्न्याधान हो सकता है। क्योंकि मृगशीर्ष प्रजापति का सिर है। श्री ही सिर है। श्री ही सिर है। इसलिए जो मनुष्य जाति में श्रेष्ठ होता है, उसे जाति का सिर कहते हैं। जो इस रहस्य को समझ कर मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान करता है, वह श्री को प्राप्त होगा।।8।।

अब मृगशीर्ष नक्षत्र में अग्न्याधान न करने की (युक्ति कुछ लोग यह देते हैं) कि यह प्रजापति का शरीर है। जब इसको देवों ने त्रिकाण्ड तीर से बीन्धा, तो कहते हैं कि उसने शरीर त्याग दिया। इसलिए यह शरीर केवल वास्तु, अयज्ञिय (यज्ञ न करने योग्य) और निर्वीर्य हो गया। इसलिए मृगशीर्ष में अग्न्याधान न करे।।9।।

परन्तु वह कर सकता है। यह जो प्रजापति का शरीर है, न तो वास्तु है, न अयज्ञिय, न निर्वीर्य। (इसलिए मृगशीर्ष में अग्न्याधान करे)। पुनर्वसु नक्षत्र में पुनराधेय कर्म करे। ऐसा आदेश है।।10।।

(4) **मत्स्य पुराण**-यहां भी सृष्टि के तत्त्व रूप में ही ब्रह्मा तथा उनकी पुत्री सरस्वती का वर्णन है। मनुष्य रूप ब्रह्मा के 4 या 5 सिर नहीं हो सकते हैं। मत्स्य पुराण, अध्याय 3-

एतत् तत्त्वात्मकं कृत्वा जगद्वेधा अजीजनत्।।29।।

सावित्री लोकसृष्ट्यर्थं हृदि कृत्वा समास्थितः।
ततः सञ्जपतस्तस्य भित्वा देहमकल्मषम्।।30।।

स्त्रीरूपमधर्ममकरोदर्धं पुरुषरूपवत्।
शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते।।31।।

सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परन्तप।
ततः स्वदेह सम्भूतामात्मजामित्यकल्पयत्।।32।।

दृष्ट्वा तां व्यथितस्तावत् कामबाणार्दितो विभुः।
अहो रूपमहो रूपमिति चाह प्रजापतिः।।33।।

ततो वसिष्ठप्रमुखा भगिनीमिति चक्रुशुः।
ब्रह्मा न किञ्चिद्दृशे तन्मुखालोकनादृते।।34।।

अहो रूपमहो रूपमिति प्राह पुनः पुनः।
ततः प्रणामनम्रां तां पुनरेवाभ्यलोकयत्।।35।।

अथ प्रदक्षिणं चक्रे सा पितुर्वरवर्णिनी।
पुत्रेभ्यो लज्जितस्यास्य तद्रूपालोकनेच्छया।।36।।

आविर्भूतं ततो वक्त्रं दक्षिणं पाण्डुगण्डवत्।
विस्मय स्फुरदोष्टं च पाश्चात्यमुदगात्ततः।।37।।

चतुर्थमभवत् पश्चाद्वामं कामशरातुरम्।
ततोऽन्यदभवत्तस्य कामातुरतया तथा।।38।।

उत्पतन्त्यास्तदाकाश आलोकनकुतूहलात्।
सृष्ट्यर्थं यत्कृतं तेन तपः परम दारुणम्।।39।।

तत्सर्वं नाशमगमत् स्वसुतोपगमेच्छया।
तेनोर्ध्वं वक्त्रमभवत् पञ्चमं तस्य धीमतः।।

आविर्भवज्जटाभिश्च तद् वक्त्रं चावृणोत् प्रभुः।।40।।

= सांख्य के 26 तत्त्वों (विश्व पुरुष तथा व्यक्ति पुरुष अलग मान कर) से ब्रह्मा ने जगत् की रचना की। जब ब्रह्मा ने जगत् की सृष्टि करने की इच्छा से हृदय में सावित्री का ध्यान करके उपश्चरण प्रारम्भ किया, उस समय जप करते हुए उनका निष्पाप शरीर 2 भागों में विभक्त हो गया। उसमें आधा स्त्री, आधा पुरुष रूप हो गया। परन्तप! वह स्त्री सरस्वती, शतरूपा नाम से विख्यात हुई। वही सावित्री, गायत्री और ब्रह्माणी भी कही जाती है। इस प्रकार ब्रह्मा ने अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली

सावित्री को अपनी पुत्री रूप में स्वीकार किया। किंतु उस सावित्री को देखकर वे सर्वश्रेष्ठ प्रजापति ब्रह्मा मुग्ध हो उठे और कहने लगे-कैसा अद्‌भुत् रूप है, कैसा अद्‌भुत्? सावित्री के मुख को देखने के अतिरिक्त उनको अन्य कुछ नहीं दीख रहा था। बार बार कह रहे थे-अहो रूप, अहो रूप। जब सावित्री झुक कर प्रणाम करने लगी तब ब्रह्मा पुनः उनको देखने लगे। तब सावित्री ने उनकी प्रदक्षिणा की। उसे देखने के लिए 4 दिशाओं में ब्रह्मा के 4 मुख हो गये-दाहिने पीला मुख (पाण्डु), पीछे फड़कते ओठ वाला मुंह, वाम भाग में कामातुर दीखने वाला मुंह। सावित्री की ओर बार-बार देखने के कारण ब्रह्मा का सृष्टि रचना के लिए किया गया तप नष्ट हो गया तथा पाप के कारण ऊपर की तरफ जटा युक्त 5वां मुंह हुआ जिसे ब्रह्मा ने स्वीकार कर लिया।

(5) **देवी भागवत पुराण**-यहां सरस्वती को मूल प्रकृति का अंश कहा गया है जो ब्रह्मा को सृष्टि कार्य में सहायता के लिए प्रकृति ने दिया। देवी भागवत पुराण, अध्याय (3/6)-

गृहाणेमां विधे शक्तिं सुरूपां चारुहासिनीम्।
महासरस्वतीं नाम्ना रजोगुणयुतां वराम्॥32॥

श्वेताम्बरधरां दिव्यां दिव्यभूषणभूषिताम्।
वरासन समारूढां क्रीडार्थं सहचारिणीम्॥33॥

एषा सहचरी नित्यं भविष्यति वराङ्गना।
मावमंस्था विभूतिं मे मत्वा पूज्यतमां प्रियाम्॥34॥

= (आद्य प्रकृति ने अपने तथा ब्रह्म को एक ही कहा, जो सृष्टि के लिए भेद युक्त हो गया) अतः सृष्टि करने के लिए अपना स्वरूप महा सरस्वती को ब्रह्मा की सहचरी रूप में दिया।

(6) **गरुड पुराण**-यहां भी ये नाम सृष्टि तत्त्वों से सम्बन्धित है। यहां प्रद्युम्न का अर्थ भगवान् कृष्ण का पुत्र नहीं है, बल्कि पाञ्चरात्र दर्शन के अनुसार सृष्टि के 4 व्यूह या क्रम है-सूर्य सिद्धान्त (12/12-17), नारदीय संहिता (1/33-47)। 4 व्यूह हैं-

वासुदेव (वास स्थान आकाश-अथर्व 10/14/7-सर्वाधार),

संकर्षण-परस्पर आकर्षण से पिण्ड बने-(अथर्व, 10/14/8, ज्येष्ठ ब्रह्म सूक्त), आकृष्णेन रजसा वर्तमानः निवेशयन् अमृतं मर्त्यं च-(वाज.यजु, 33/43, ऋक्, 1/35/2)

प्रद्युम्न (तारा मण्डल से प्रकाश निकलना आरम्भ हुआ)-हिरण्ययेन सविता

रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्, (वाज.यजु, 33/43, ऋक्, 1/35/2)

अनिरुद्ध (पृथ्वी पर अनन्त सृष्टि)-चित्राणि साकं दिवि रोचनानि (अथर्व, 19/7/1-नक्षत्र से भी सम्बन्धित), चित्रं देवानामुदगादनीकम् (ऋक्, 1/135/1)

यहां पर विरिञ्च तथा ब्रह्मा को अलग अलग कहा है, उनकी पत्नियों सावित्री तथा सरस्वती को भी भिन्न कहा है तथा उनको प्रद्युम्न की पुत्री कहा है। प्रद्युम्न सृष्टि का आरम्भ सूर्य तेज से हुआ। सूर्य का निर्माता ब्रह्माण्ड या चतुर्मुख ब्रह्म है, उसकी शक्ति सरस्वती है। सूर्य मण्डल के भीतर विरिञ्च ब्रह्मा है जिसकी शक्ति सावित्री है। इनको अमृत तथा मर्त्य भी कहा है (वाज.यजु, 33/43, ऋक्, 1/35/2) या अकृतक-कृतक (विष्णु पुराण, 2/7/19-20)।

गरुड़ पुराण, अध्याय (3/16)-

कृतौ प्रद्युम्नतश्चौव समुत्पन्ने खगेश्वर।
स्त्रियौ द्वे यमले चौव तयोर्मध्य तु यद्विका॥81॥

वाणीतिसंज्ञकां वीन्द्र ब्रह्माणी संज्ञकां विदुः।
पुरुषाख्य विरिञ्चस्य भार्या सावित्रिका मता॥

चतुर्मुखस्य भार्या तु कीर्तिता सा सरस्वती॥82॥

= कृतयुग में प्रद्युम्न से 2 यमल स्त्रियां उत्पन्न हुईं। उनके बीच में वाणी हुईं (या दोनों को वाणी कहते थे)। सावित्री का विवाह विरिञ्च से तथा सरस्वती का चतुर्मुख ब्रह्मा से हुआ।

सरस्वती से मरुत्-

(7) **वामन पुराण**-ब्रह्माण्ड का क्षेत्र या आकाश सरस्वती है जिसके गर्भ में 7 ◦ 7 मरुत् हैं। इसका खण्ड रूप दिति है जिसे इन्द्र के वज्र ने काट दिया। सूर्यों से निकला तेज ही इन्द्र का वज्र है, उसकी तीव्रता के अनुसार गति होती है जिनके अनुसार मरुत् विभाग हैं।

वामन पुराण, अध्याय 71-विवेश मातुरुदरं नासारन्ध्रेण नारद॥29॥

तेनैव गर्भं दितिजं वज्रेण शतपर्वणा।
चिच्छेद सप्तधा ब्रह्मन् स रुरोद च विस्वरम्॥34॥

शक्रोऽपि प्राह मा मूढ रुदस्येति सुघर्घरम्।
इत्येवमुक्त्वा चैकैकं भूयश्चिच्छेद सप्तधा॥36॥

= माता (दिति) के उदर में नासा रन्ध्र से इन्द्र प्रवेश कर गये। दिति के गर्भ के बालक को वज्र से 7 भाग में काट दिया। वह जोर से रोने लगा तो इन्द्र ने कहा

कि मूर्ख मत रो। यह कह कर पुनः सभी को 7-7 भाग में काट दिया। मा-रुद कहने से वे मरुत् नाम से प्रसिद्ध हुए।

बाद में उनका सरस्वती के गर्भ से जन्म हुआ। वामन पुराण, अध्याय 72-सरस्वतीभ्यः सप्तभ्यः सप्त वै मरुतोऽभवन्।।75।।

(8) **ऋग्वेद**- यह वर्णन रहस्यात्मक है। इसके वैज्ञानिक शब्दों के प्रसंग अनुसार अलग अर्थ होंगे।

ऋक् (10/61)-ऋषि नाभानेदिष्ट मानव, छन्द-त्रिष्टुप्, देवता विश्वेदेवाः।

यहां ऋषि का नाम प्रायः वही तत्त्व होता है जिसका वे वर्णन कर रहे हैं। नाभा-नेदिष्ट का अर्थ है नाभि के निकट एकत्र करना। एकत्र होने पर यह रेत है, अतः रेत (बालू के कण जैसे) भी कहा गया है। रेत का अर्थ वीर्य भी है, जिसमें कण रूप शुक्राणु रहते हैं। ब्रह्माण्ड के लिए सूर्य, पृथ्वी भी कण हैं।

रेतो वै नाभानेदिष्टः (गोपथ ब्राह्मण, उत्तर, 6/8, ऐतरेय ब्राह्मण, 6/27)

रेतो हि नाभानेदिष्टीयम् (ताण्ड्य महाब्राह्मण, 20/9/2)

प्राणो (नाभानेदिष्टयुक्तः-त्वष्टा) **हि रेतसां विकर्त्ता** (शतपथ ब्राह्मण, 13/3/8/1)

द्रप्सीव हि रेतः (शतपथ ब्राह्मण, 11/4/1/15-द्रप्सः = कतवचे, ठोस विदुओं सहित द्रव)

आण्डौ वै रेतः सिचौ, यस्य ह्याण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति (शतपथ ब्राह्मण, 7/4/2/24)-मनुष्य के अण्डकोष से शुक्राणु बनते हैं, उसके बिना नपुंसक है।

आकाश में भी ऐसी ही सृष्टि होती है, ब्रह्म अपने ही द्वारा निर्मित प्रकृति (पुत्री) में बीज डालता है। गीता, अध्याय 14-

मम योनिर्महद् ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्व भूतानां ततो भवति भारत॥3॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥4॥

यह प्रसारित पदार्थ से कण रूप पिण्डों का वर्णन है। इसके लिए गति की आवश्यकता है जिसे रुद्र तेज कहा गया है। विश्वेदेवा का अर्थ है सौर मण्डल के बाहर ब्रह्माण्ड के देव। फैले हुए सोम या विरल पदार्थ से पिण्ड बनने का क्रम लिखा है।

कृष्णा यद्गोष्वरुणीषु सीदद्दिवो नपाताश्विना हुवे वाम्।
वीतं मे यज्ञमा गतं मे अन्नं ववन्वांसा नेषमस्मृतध्रू।।4।।

= हे स्वर्गपुत्र अश्विनीकुमारो! जिस समय काली रात लाल रंग वाली उषाओं में बदलने लगती है, उस समय तुम्हारा आह्वान करता हूँ। मेरे हव्य अन्न की अभिलाषा करने के ले तुम मेरे यज्ञ में आओ। अश्वों के समान उसे ग्रहण करो और मेरे प्रति द्रोह को भुला दो।

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्।
पुनस्तदा वृहति यत्कनायां दुहितुरा अनुभृतमनर्वा।।5।।

= प्रजापति का वीर्य पुत्र उत्पन्न करने में श्रेष्ठ है। प्रजापति ने अपने लोकहितकारी वीर्य का त्याग किया, जिसे अपनी पुत्री उषा के शरीर में सिञ्चित किया।

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्।
मनानग्रेतौ जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ।।6।।

= जिस समय पिता ने अपनी युवती कन्या के साथ यथेच्छ कर्म किया, उस समय उनके संभोग कर्म के समीप थोड़ा वीर्य गिरा। परस्पर अभिगमन करते हुए उन दोनों ने वह वीर्य यज्ञ के ऊंचे स्थान योनि में छोड़ा था।

पिता यस्त्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्यौऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपा निरतक्षन्।।7।।

= जिस समय पिता ने युवती कन्या के साथ संभोग किया, उस समय पृथ्वी (आधार) से मिलकर वीर्य त्याग किया। शोभन कर्म वाले देवों ने उसी वीर्य से व्रतरक्षक देव वास्तोष्पति का निर्माण किया। (वास्तु = घर, जहां कोई कर्म या व्रत किया जा सके)।

(9) **नक्षत्र सम्बन्धी अर्थ**-नक्षत्र एक दूसरे से बहुत दूर हैं तथा कुछ अपने ब्रह्माण्ड के बाहर के ब्रह्माण्ड हैं जो पृथ्वी से एक साथ दीखते हैं, उनकी दिशा परस्पर निकट है। सूर्य सिद्धान्त, अध्याय 8 के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र में 3 तारा हैं, जो प्रायः एक रेखा में हैं, किन्तु इसको मृग का शिर कहा जाता है। इसका उत्तरी तारा योगतारा है, जिसका स्थान लिखा जाता है। यह सूर्य सिद्धान्त के समय 63 अंश पूर्व तथा 10 अंश दक्षिण था। सूर्य सिद्धान्त (8/10) में अगस्त्य का स्थान 80 अंश दक्षिण कहा है जो प्रायः 11,000 ई.पू. में था जिस के बाद जल प्रलय हुआ था।

आइजक असिमोव ने अपनी पुस्तक (Isaac Asimov-The Intelligent Man's Guide to Science, new edition 1963, last chapter) के अन्त में 2 प्राचीन वर्णनों

पर आश्चर्य व्यक्त किया है-महाभारत में ब्रह्मास्त्र के प्रयोग का वही प्रभाव कहा गया है जो परमाणु बम या हाइड्रोजन बम का होता है (अश्वत्थामा द्वारा ब्रह्मास्त्र प्रयोग के समय वेदव्यास द्वारा)। दूसरे मृगशिरा नक्षत्र की दिशा में एक प्राचीन तारा के विखण्डन का अवशेष है, जो विराट् बादल जैसा है। इससे प्रकाश नहीं निकलता है, पर इन्फ्रा-रेड (ताप) किरणों द्वारा इसका चित्र घोड़े के सिर जैसा दीखता है। इसे आजकल Horse&head Nebula (घोड़े के सिर जैसा मेघ) नाम दिया गया है। प्राचीन काल में यह कैसे ज्ञात हुआ था कि यह मृगशिरा या हरिण का सिर है?

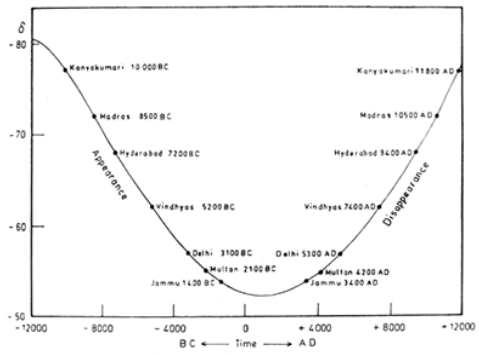

Figure 1. Visibility of Agastya (Canopus).

मृगशिरा से कुछ पहले (पश्चिम) 2 तारा उत्तर में हैं-

ब्रह्महृदय-52 अंश पूर्व, 30 अंश उत्तर (a-aurigae, Capella)

प्रजापति-57 अंश पूर्व, 38 अंश उत्तर (ß-aurigae)

मृगशिरा के पूर्व मृगव्याध तारा (ß-Tauri) दक्षिण में है। इसका स्थान 80 अंश पूर्व तथा 40 अंश दक्षिण है।

मुजफ्फर अली की पुस्तक पौराणिक भूगोल (S- Muzafar Ali-Geography of Purāṇas, page 182) में कहा है कि दक्षिण के सबसे बड़े द्वीप को भारत तथा अरब में भी हरिण द्वीप कहा जाता था, यद्यपि यहां हरिण नहीं थे। यह नाम दक्षिण दिशा के मृगव्याध नक्षत्र के अनुसार था। गर्ग संहिता (7/40/35) के अनुसार अपान्तरतमा ने यहां तप किया था, अतः गरुड़ वहां गये तो उनके पंख गिर गये। ब्रह्मवैवर्त पुराण (1/22/18) के अनुसार भी समुद्र पार (अपान्तरतम देश) में तप करने से उनका नाम अपान्तरतमा हुआ। महाभारत शान्ति पर्व (349/39-66) में अपान्तरतमा को वाणी-हिरण्यगर्भ का पुत्र कहा है। इनके अवतार रूप में पराशर पुत्र व्यास हुए।

मृगशिरा के पश्चिम रोहिणी नक्षत्र है, जिसका देवता प्रजापति है।

मृगव्याध को ग्रीस में भी ओरियन (पूर्वी) व्याध (Orion the hunter, Orient = East) कहते थे, अर्थात् भारतीय मत के अनुसार यह व्याध था।

मृगव्याध से मृग तथा प्रजापति की दिशा में 3 तारा प्रायः एक रेखा में दीखते हैं, जिसे वेद या ऐतरेय ब्राह्मण में इषु-त्रिकाण्डा कहा गया है।

(10) **शतपथ ब्राह्मण**-यह अग्न्याधान के विषय में है। शतपथ ब्राह्मण के प्रथम 5 काण्डों में कई यज्ञों का वर्णन है-

1. अग्न्याधान, 2. अग्निहोत्र, 3. दर्शपूर्णमासेष्टि, 4. पिण्ड पितृ यज्ञ, 5. चातुर्मास्येष्टि, 6. अयनयाग-पशुबन्ध, 7. अग्निष्टोम, 8. वाजपेय, 9. राजसूय, 10. अश्वमेध आदि।

व्यक्ति तथा समाज रूप में ये यज्ञ प्राकृतिक काल-चक्रों के अनुसार क्रिया का वर्णन करते हैं। राजसूय यज्ञ में प्रजा से राजा कर लेता है तथा पुनः उसका प्रजा के लिए प्रयोग करता है। वाजपेय यज्ञ समाज या देश की उन्नति, क्षमता वृद्धि के लिए है। अश्वमेध यज्ञ का अर्थ है देश में सञ्चार तथा यातायात अबाधित हो।

यज्ञ का स्थान वेदी है, ऊर्जा का स्थान अग्नि है, उसमें उत्पादन के लिए आहुति दी जाती है।

अग्न्याधान का अर्थ है, अग्नि जलाना। यह सदा जल सकती है जैसे स्टील प्लाण्ट की भट्टी सदा जलती रहती है। अग्नि का आरम्भ करना, या दूसरे से मांग कर लाना अन्य प्रकार हैं।

अग्निहोत्र दैनिक क्रिया है। पृथ्वी को अग्नि (आकाश का ठोस पिण्ड) कहा है, उसकी दैनिक अक्ष गति के अनुसार कर्म अग्निहोत्र है।

पितर कई प्रकार के हैं-मनुष्य, ऋतु, वायुमण्डल, वृक्ष आदि। इनको पुष्ट करने से मनुष्य तथा समाज स्वस्थ रहता है।

अन्य यज्ञ वर्ष के विभिन्न भागों, चान्द्र मास, ऋतु, चातुर्मास, अयन आदि के अनुसार होते हैं। अयन यज्ञ को पशुबन्ध भी कहते हैं, यह भौतिक पशु नहीं, वर्ष का भाग है, जिनको भौतिक पशुओं का नाम दिया है।

कितनी प्रकार की अग्नि का आधान किया जाता है, इसके कुछ प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् (5/4-10) में हैं।

हवनकर्ता	अग्नि	समिध	धूम ज्वाला	अङ्गार	विस्फुलिङ्ग	आहुति	उत्पत्ति
1. देव	द्युलोक	आदित्य	किरण दिन	चन्द्रमा	नक्षत्र	श्रद्धा	सोमराजा
2. देव	पर्जन्य	वायु	बादल	विद्युत् वज्र	गर्जन	राजा सोम	वर्षा
3. देव	पृथिवी	संवत्सर	आकाश	रात्रि दिशा	अवान्तर	दिशा	वर्षा अज
4. देव	पुरुष	वाक्	प्राण	जिह्वा	चक्षु	श्रोत्र	अज वीर्य
5. देव	स्त्री	उपस्थ	उपमन्त्रण	योनि	शुक्रनिवेश	आनन्द	रेत गर्भ

इस पांचवी आहुति से पुरुष (स्त्री भी) दशम मास में उत्पन्न होता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आकाश, पृथ्वी पर या शरीर के भीतर जो कुछ निर्माण हो रहा है, वह यज्ञ से हो रहा है। इसके लिये उचित परिस्थिति को पर्जन्य कहा है, जो कृषि के लिए वर्षा है।

गीता, अध्याय 3 में कहा है कि आवश्यकता की चीजों का उत्पादन यज्ञ है। यज्ञ से पर्जन्य होता है तथा पर्जन्य से अन्न। यह केवल कृषि यज्ञ के लिए है। ज्ञान, स्वाध्याय, द्रव्य, प्राण आदि यज्ञों के लिए पर्जन्य का अर्थ वर्षा नहीं है। ज्ञान यज्ञ के लिए विद्यालय, पुस्तकालय आदि, प्राण यज्ञ के लिए घर में शान्त स्थान, द्रव्य यज्ञ के लिए कारखाना, दुकान आदि पर्जन्य हैं। जो भी दृश्य या अदृश्य उत्पादन हो वह अन्न है (Goods and services)।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरो वाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥10॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥14॥

सूर्य के नक्षत्रों के अनुसार अग्न्याधान का वर्णन ऋतु अनुसार है। इसके लिए सायन नक्षत्र होना चाहिए। स्थिर तारा के अनुसार अश्विनी प्रथम नक्षत्र है, किन्तु सायन स्थिति के अनुसार गणना के लिए कृत्तिका प्रथम नक्षत्र है अतः कहते हैं-कृत्तिकातः गणना।

सूर्य की स्थिति या ऋतु की गणना के लिये सदा उसी विन्दु से गणना करते हैं जब सूर्य विषुव पर लम्ब हो। इस विन्दु पर क्रान्ति वृत्त (पृथ्वी कक्षा) को विषुव वृत्त काटता है और वहां से गोलीय त्रिभुज बनता है जिसके गणित सूत्र हैं। यहां दोनों वृत्तों की रेखायें कैंची की तरह मिलती हैं, अतः इसे कृत्तिका (कैंची) कहते हैं। विपरीत दिशा में जहां दोनों शाखायें मिलती हैं, वह विशाखा नक्षत्र है। ये नाम स्थिर

ताराओं के नक्षत्रों जैसे हैं किन्तु विषुव स्थान से हैं। इस पद्धति में कृत्तिका से गणना होती है, अतः कहा है–कृत्तिकातः गणना। किन्तु स्थिर ताराओं की गणना मेष से है। नक्षत्र स्थान के अनुसार सूर्य वर्ष से विषुव चक्र तक का वर्ष प्रायः 20 मिनट छोटा होता है। स्थिर नक्षत्र तुलना में सूर्य वर्ष को निरयण (बिना अयन चलन का, Sidereal year) तथा विषुव विन्दु पर सूर्य चक्र को सायन या ऋतु वर्ष (Tropical year) कहते हैं।

कृत्तिकाः प्रथमम्। विशाखे उत्तरम्। तानि देव नक्षत्राणि। अनुराधाः प्रथमम्। अपभरणीरुत्तमम्। तानि यमनक्षत्राणि। यानि देवनक्षत्राणि। तानि दक्षिणेन परियन्ति। यानि यमनक्षत्राणि।।7।। तान्युत्तरेण। (तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/5/2)

= कृत्तिका से विशाखा तक देव नक्षत्र हैं। अनुराधा से भरणी तक यम (दक्षिण) नक्षत्र हैं। जो देव नक्षत्र हैं, वे दक्षिण से जाते हैं। जो यम नक्षत्र हैं, वे उत्तर से।

यम दक्षिण का स्वामी है, देव उत्तर भाग में हैं। सूर्य देव नक्षत्रों में रहने पर विषुव के उत्तर भाग में रहता है, उसे दक्षिण में रख कर चलता है। यम नक्षत्रों में सूर्य विषुव से दक्षिण रहता है।

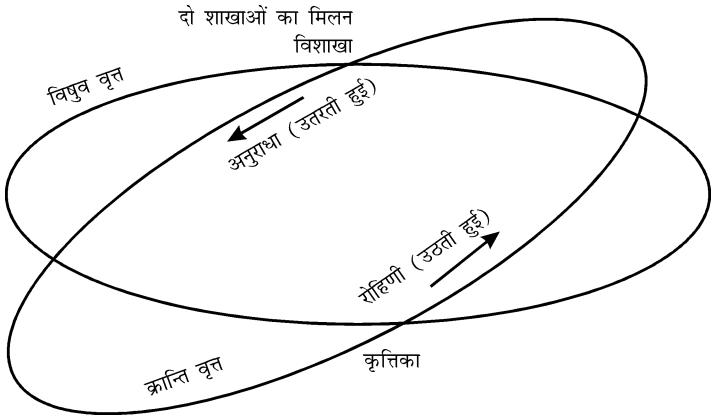

सतत ऊर्ध्वारोहत्। सा रोहिण्यभवत्।
तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्। रोहिण्यामग्निमादधीत।
स्व एवैनं योनौ प्रतिष्ठितमाधत्ते। ऋध्नोत्येतेन।।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/1/10/6)

ऊरू विशाखे (तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/5/2/3)–2 शाखाओं के मिलन को 2 जंघा कहा है।

अन्वेषामरात्स्मेति। तदनुराधाः (तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/5/2/8)

नक्षत्रों में सूर्य की स्थिति के अनुसार कृषि कार्य होता है-यह ऋतु वर्ष के अनुसार ही सम्भव है-

सूर्यायां वहतुः प्रागात् सवितायमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते। (ऋक्, 10/85/13)

अथर्व में अघा को मघा तथा अर्जुनी को फल्गुनी लिखा है-

सूर्यायां वहतुः प्रागात् सवितायमवासृजत्।
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते।। (अथर्व सं. 14/1/13)

= गावः का अर्थ किरण है। सूर्य मघा नक्षत्र में रहने पर ये कम होती हैं, अर्थात् शीत होता है (भारत के लिए उत्तर गोल में)। उसके बाद फल्गुनी नक्षत्र से तेज बढ़ना आरम्भ होता है। सूर्या का अर्थ सूर्य से उत्पन्न ऊर्जा क्षेत्र है, वह मघा से पहले आता है। सूर्य किरण से वर्षा मिलती है जो मघा से पहले हुआ।

इन्द्राग्नियोर्विशाखे। युगानि परस्तात् कृषमाणा अवस्तात्। मित्रस्यानुराधाः। अभ्यारोहत् परस्ताद् अभ्यारूढं अवस्तात्। इन्द्रस्य रोहिणी। -निर्ऋत्यै मूलबर्हणी। (तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/5/1)

=इन्द्राग्नि के विशाखा में हल जोतते हैं और चलाते हैं। (इन्द्राग्नि -वर्षा और गर्मी दोनों)। अनुराधा में हल चलाना जारी रहता है। रोहिणी से इन्द्र आदि देव नक्षत्र हैं (कृत्तिका के बाद)। मूलबर्हणी से निर्ऋति (दक्षिण में) है।

सायन कृत्तिका से वर्ष आरम्भ होता है। वर्ष की अग्नि का आरम्भ होने से कृत्तिका का देवता अग्नि है। उसके बाद रोहिणी से सूर्य का तेज बढ़ता है तथा संवत्सर रूप प्रजापति का कार्य आरम्भ होता है, अतः रोहिणी का देवता प्रजापति है। मृगशिरा नक्षत्र का देव चन्द्र है, जब कृषि की तैयारी होती है।

(11) **आधिदैविक अर्थ**-सृष्टि के लिए ब्रह्मा द्वारा सरस्वती समागम का सरल स्पष्ट अर्थ यही है कि कोई भी यज्ञ ठीक से करने के लिए बुद्धि चाहिए। महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय 349-

मम त्वं नाभितो जातः प्रजा सर्गकरः प्रभुः।
सृज प्रजास्त्वं विविधा ब्रह्मन् सजडपण्डिताः॥19॥

स एवमुक्तो विमुखश्चिन्ताव्याकुलमानसः।
प्रणम्य वरदं देवमुवाच हरिमीश्वरम्॥20॥

का शक्तिर्मम देवेश प्रजाः स्रष्टुं नमोऽस्तु ते।
अप्रज्ञावानहं देव विधत्स्व यदनन्तरम्॥21॥

स एवमुक्तो भगवान् भूत्वाथान्तर्हितस्ततः।
चिन्तयामास देवेशो बुद्धिं बुद्धिमतां वरः।।22।।

स्वरूपिणी ततो बुद्धिरुपतस्थे हरिं प्रभुम्।
योगेन चैनां नियोगः स्वयं नियुजे तदा।।23।।

स तामैश्वर्ययोगस्थां बुद्धिं गतिमतीं सतीम्।
उवाच वचनं देवो बुद्धिं वै प्रभुरव्ययः।।24।।

ब्रह्माणं प्रविशस्वेति लोकसृष्ट्यर्थसिद्धये।
ततस्तमीश्वरादिष्टा बुद्धिः क्षिप्रं विवेश सा।।25।।

= विष्णु के नाभि कमल से ब्रह्मा उत्पन्न होने पर विष्णु ने उनसे सृष्टि करने को कहा तो ब्रह्मा ने कहा कि इसके लिए उनके पास बुद्धि नहीं है। तब विष्णु बुद्धि का आवाहन कर उसे तेजयुक्त किया तथा ब्रह्मा के भीतर प्रवेश करने की आज्ञा दी।

ईश्वर रूप ही शिव है, उसका तीव्र तेज रुद्र है।

आधिदैविक अर्थ समझने के लिए कई परिभाषायें जानना जरूरी है।

ब्रह्म का अर्थ है परमतत्त्व जिससे सृष्टि का आरम्भ, वृद्धि, क्षय, लय आदि हुआ–

जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र, 1/1/2), यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति। (तैत्तिरीय उपनिषद्, 3/1/1)

अव्यक्त ब्रह्म का स्रष्टा रूप ब्रह्मा, क्रिया या यज्ञ रूप विष्णु तथा ज्ञान रूप शिव है। यह गायत्री मन्त्र के 3 पाद हैं।

देवी रूप में गायत्री मन्त्र के 3 पाद महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती हैं।

पुरुष–स्त्री–अव्यक्त ब्रह्म एक ही है, जो पुरुष कहा जाता है। यह चेतन तत्त्व है। व्यक्ति रूप में भी चेतन तत्त्व पुरुष है। सृष्टि के लिए पुरुष ने अपने को 2 भागों में विभक्त किया, जिनको पुरुष तथा स्त्री (श्री, प्रकृति) कहते हैं।

देवों में पुरुष स्त्री विभाजन को वृषा–योषा, अग्नि–सोम, मनु–शतरूपा आदि कहते हैं।

वृषा वर्षा करता है, योषा ग्रहण करती है।

अग्नि का सामान्य अर्थ आग है, जो ताप का घना रूप है। किसी पिण्ड का भी घना रूप अग्नि है, जैसे पृथिवी। फैला हुआ विरल पदार्थ सोम है। यह जल जैसा होने से इसे जल के विभिन्न नामों से भी कहा गया है।

मनुष्य जन्म के लिए पुरुष केवल बीज देता है, जनन क्रिया स्त्री के गर्भ में ही होती है, जो क्षेत्र है। इसी अर्थ का विस्तार आकाश के देव रूपों में हुआ है।

सांख्य परिभाषा के अनुसार चेतन तत्त्व पुरुष है, निर्माण सामग्री या पदार्थ प्रकृति है। यह मातृ होने से पदार्थ को मैटर (matter) कहा गया है।

मनु मन तत्त्व है जो चेतन है। ब्रह्मा के ही अर्ध भाग से स्त्री उत्पन्न हुई जिसे गायत्री, शतरूपा आदि कहा जाता है (मत्स्य पुराण, 4/24, शिव पुराण, 7/1/17)

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥ (मनुस्मृति, 1/32)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्न प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता, 7/4)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता. 9/10)

विद्या भी 2 प्रकार की है-कणों का संग्रह गिना जा सकता है, विद्या का वह रूप गणेश है।

जो गिना नहीं जा सकता है, क्षेत्र में फैला हुआ है वह रसवती या सरस्वती है।

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

(रामचरितमानस, मङ्गलाचरण)

वर्ण, शब्द आदि गिने जा सकते हैं, वह गणेश है, अर्थ भाव गिने नहीं जा सकते, वह सरस्वती है।

विद्या सम्बन्धी सभी शब्द स्त्रीलिंग हैं-स्मृति, धी, बुद्धि, मेधा, धिषणा, विद्या।

कहा भी है-या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता (दुर्गा सप्तशती, 5/20)

एक विचार कण रूप है, वह पुल्लिंग है। उसका संघ स्थान मन उभयलिंग है।

विचारों का संग्रह, उनका वर्गीकरण, प्रयोग आदि मिला-जुला है, अतः बुद्धि, विद्या, मेधा आदि स्त्रीलिंग हैं।

सैनिक पुल्लिंग है, पर उनका समन्वय सेना या वाहिनी स्त्रीलिंग है। केश पुल्लिंग है पर उनका समूह मूंछ या चोटी स्त्रीलिंग है।

आकाश में सृष्टि के 5 पर्व हैं-

स ऐक्षत प्रजापतिः (स्वयम्भूः) इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि। आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। ता वा एताः प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्त-(1) अग्निः (तद् गर्भितो भूपिण्डश्च), (2) इन्द्रः (तद् गर्भितः सूर्यश्च), सोमः (तद् गर्भितः चन्द्रश्च), (4) परमेष्ठी प्राजापत्यः (स्वायम्भुवः)-शतपथ ब्राह्मण (11/6/1/12-13)

स्वयम्भू -शतपथ ब्राह्मण (6/1/1/8), परमेष्ठी-वारि वा अप् रूप-शतपथ ब्राह्मण (6/1/1/9-10), सूर्य त्रयी विद्या (श्रुतेः त्रीणि पदाः)-शतपथ ब्राह्मण (11/6/1/1), भूमण्डल भूपिण्डः-शतपथ ब्राह्मण (6/1/2/1), भूक्षेत्र-शतपथ ब्राह्मण (6/1/2/3), चन्द्र मण्डल-शतपथ ब्राह्मण (6/1/2/4)।

(1) स्वयम्भू मण्डल अनन्त है तथा दृश्य भाग में 100 अरब ब्रह्माण्ड हैं। इसका मूल तत्त्व सर्वतः समान था अतः उसे रस कहा गया है। इसमें तरंग होने से वह सरिर या सलिल हुआ। इसमें पिण्डों या कणों का सम्पर्क सूत्र वेद है तथा क्रिया रूप नियति है जो प्रकृति का मूल रूप है।

(2) परमेष्ठी मण्डल हमारा ब्रह्माण्ड है, जिसमें जल रूप तत्त्व अप् है। इसमें कम्पन या शब्द होने से यह अम्भ हुआ। इसका क्षेत्र सरस्वती है। बीच में थाली जैसा घूमता हुआ क्षेत्र आकाशगंगा है। इसका केन्द्र अमृत कृष्ण है (ब्रह्माण्ड का मूल जो मूल नक्षत्र की दिशा में है)।

योषा वै सरस्वती, पूषा वृषा। (शतपथ ब्राह्मण, 2/5/1/11)

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन् समूह (ईशावास्योपनिषद्, वाज. यजु, 40/16)

(3) सौर मण्डल का क्षेत्र सावित्री है क्योंकि इसी से हमारा जन्म हुआ है (सव या प्रसव = जन्म होना)। इसका जल मर है जिसमें सूर्य किरण मरीचि से सृष्टि होती है। सूर्य ब्रह्माण्ड के कण रूप में अमृत ब्रह्माण्ड या उसके चेतन रूप ब्रह्म का अंश है। अपने मण्डल के केंद्र रूप में वह मर्त्य लोक का स्वामी है जिसका चेतन तत्त्व मर्त्य ब्रह्मा या विरिञ्च है।

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽदेवो यांति भुवनानि पश्यन्।।

(ऋक्, 1/35/2, वाज. यजु, 3/43, 34/31)

येन सूर्यां सावित्रीम्। (अथर्व, 6/82/2)

मूलमेषामवृक्षामेति। तन्मूलबर्हणी।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/5/1/4, 3/1/2/3)

(4) चान्द्र मण्डल–वह गोल है जिसके भीतर चन्द्र कक्षा है। यह अत्रि है जिसमें नेत्ररूपी सूर्य से तेज तथा आकाशगंगा का द्रव रूप अम्भ मिल कर सम–शीतोष्ण भाग में सृष्टि कर रहे हैं। इसका स्वयं का प्रकाश नहीं होने से यह ब्रह्मा कृष्ण है।

चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः (वाज. यजु, 23/13, शतपथ ब्राह्मण, 13/2/7/7)

स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्रमसि न्यदधत तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम् (शतपथ ब्राह्मण, 1/2/5/18)

अथ नयन समुत्थं ज्योतिरत्रेरिवद्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥ (रघुवंश 2/75)

= जैसे चन्द्र मण्डल में सूर्य तेज तथा आकाशगंगा द्रव से मिल कर सृष्टि होती है वैसे ही पुरुष का बीज स्त्री गर्भ में रज के साथ मिलने पर मनुष्य का जन्म होता है।

सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति ता उपदिशत्यङ्गिरसो वेदः सोऽयमिति (शतपथ ब्राह्मण, १३/४/३/८, वाज. यजुः 18/38–43)

यहां चन्द्र मण्डल के सोम का निर्माता तत्त्व अप्सरा कहा गया है, जो युवती जैसी हैं (72 हूर नहीं हैं)

(5) भूमण्डल–पृथ्वी पर मनुष्य रूप 7 ब्रह्मा हुए जिनका वर्णन महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय 49–349 में है। उनको सृष्टि के लिए बुद्धि रूपी सरस्वती विष्णु ने दी।

✦✦✦

आरण्यक वाङ्मय में प्राणतत्त्व एक विमर्श

-देव प्रकाश

शोधछात्र, वेद विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मनुष्य जब इस सम्पूर्ण चराचर को देखता है तो उसको इसके व्यवस्थित रूप से सञ्चालित होने का भान होता है। पुनः पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि इसका कोई एक कर्ता नियन्ता है। जिसे हम ईश्वर, ब्रह्मादि अनेक नामों से जानते हैं। अस्तु, शङ्का उत्पन्न होती है कि इतने विस्तृत ब्रह्माण्ड को एक अकेला पुरुष कैसे नियन्त्रित करता है। उसके नियन्त्रण व्यवस्था का मुख्य साधन क्या है। अनेक प्रकार से विवेचन तथा अन्वेषण करने पर विदित हुआ कि वह साधन प्राण है। इसका विस्तृत विवेचन ब्राह्मण साहित्य में प्राप्त होता है। ब्राह्मण भाग में यज्ञरूपी अभिनेय क्रियाओं का विस्तरशः वर्णन उपलब्ध होता है। जिसका अनुष्ठान करना गृहस्थी का आवश्यक धर्म माना गया है।उन्हीं क्रियाओं के मूल सूक्ष्म रूप का तात्विक वर्णन करना आरण्यकसाहित्य का प्रतिपाद्य विषय है। आरण्यक साहित्य समस्त सृष्टि के पदार्थों को सूक्ष्मरूप से प्रतिपादन करता है। सृष्टि के समस्त पदार्थ मूल में प्राणरूप हैं। आरण्यक साहित्य में प्राण शब्द बहुत व्यापक और पारिभाषिक शब्द है। इस शब्द का किस प्रकरण में क्या अभिप्राय है। यह ज्ञात करना अत्यन्त आवश्यक है। महाभाष्यकार के शब्दों में कहा जाये तो जहाँ कोई विप्रतिपत्ति हो वहाँ व्याख्यान से सभी विप्रतिपत्तियों का समाधान करना चाहिये।[1] प्राण 'कुर्वद्रूप' अर्थात् प्रतिक्षण क्रियाशील है। जगत् में जो कुछ जहाँ क्रिया होती है वह सब प्राण का ही रूप है प्राण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जब सम्बन्ध करता है तो उस वस्तु में कम्पन होता है उसी को क्रिया कहते हैं। सभी क्रियाओं का उपादान यही प्राण है इसलिये जैमिनीय ब्राह्मण में कहा है कि **प्राणो हीदं सर्वं प्राणेत। तद्यत् प्राणेत तस्मात्प्राणः**[2] अर्थात् प्राण ही से सभी में गति का सञ्चार होता है, जो यह प्रकर्ष रूप से सभी पदार्थों में प्राणन है इसलिये यह प्राण कहलाता है। 'प्राण शब्द' **अनिति गति कर्माणः**[3] धातु से प्र उपसर्ग पूर्वक निष्पन्न

---

1. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्। महा. प्रत्याहाराह्निक 1
2. जै०ब्रा० 2.57
3. निघण्टु 2.14

हुआ है। अस्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ कहीं पर भी क्रियाओं के रहस्य का उद्घाटन किया गया है, वहाँ सर्वत्र प्राण को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि श्रुति कहती है कि **"प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्"**[1] सभी भूत भविष्यत् अर्थात् जो कुछ हुआ है और आगे होने वाला है वह सभी कुछ प्राण में ही प्रतिष्ठित है।

इन्हीं प्राणों की विभिन्न गतियों एवं क्रियाओं को समझाने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञीय प्रक्रिया अपनायी गयी है। वस्तुतस्तु ऋग्वेद में प्राणविद्या के सूत्र **'आयुर्न प्राणः'**[2] **'पुनः प्राणमिह नो धेहि'**।[3] अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त (11.4. 1-26) प्राणविद्या के महत्त्व का वर्णन करता है। इसमें प्राण को संसार का स्वामी और नियन्ता कहा गया है। **'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे'**[4] प्राण ही संसार का आधार है। आरण्यक ग्रन्थों में इसी प्राणविद्या का विशदीकरण है। प्राण संसार का धारक है। यह श्रुति तथा **'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्। सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः। तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्'**[5] अर्थात् यह सब कुछ प्राण से व्याप्त है। यह आकाश बृहतीरूप प्राण से व्याप्त है। जिस प्रकार यह आकाश बृहतीप्राण से धृत व व्याप्त है। उसी प्रकार पिपीलिकापर्यन्त सब भूत बृहतीप्राण से व्याप्त व धारित हैं, उसी पर आश्रित हैं, यह ऐतरेयश्रुति प्राण को बृहतीछन्दोरूप बतला रही है। **प्राणो वै बृहती'** यह प्राण 36 अक्षर वाला है। अतः इसकी बृहतीरूपता स्पष्ट है क्योंकि बृहतीप्राण 36 अक्षरात्मक है और यह प्राण भी 36 अक्षरात्मक है। क्योंकि बृहती छन्द का प्रत्येक अक्षर **'एकैकं चेदमक्षरं दशिनी विराट्'** इस श्रुति के अनुसार दशाक्षरात्मक है। इसका प्रत्येक अक्षर दश अक्षरात्मक विराट् सम्पत्ति से युक्त है अतः 36 अक्षरों का दश अतः 36 अक्षरों का दश से गुणन करने से 3610=360 अक्षरात्मकता इस प्राण में सिद्ध हो जाती है। 360 ही संवत्सर के दिन होते हैं। अतः संवत्सररूप सूर्यरस से प्राप्त यह विज्ञानात्मरूप प्राण 360 अक्षरों वाला है। अस्तु 360 अंश का वृत्त होता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वृत्ताकार है। अतः समान धर्मत्व से प्राण सर्वत्र व्यापक है। अपि च यह प्राण शरीर में प्रविष्ट होकर दश प्रकार का बन जाता है। जैसा कि **'अयं वै प्राणो योऽयं पवते। यो वै प्राणः स आयुः। सोऽयमेक इवैव पवते। सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टो दशधा**

---

1. अथर्व० 11.4.15
2. ऋग० 1.66.1
3. ऋग० 10.59.6
4. अथर्व० 11.4.1
5. ऐत०आ० 2.1.6.13

विहितः'[1] अर्थात् जो यह प्रत्येक वस्तु को पवित्र बना रहा है यह प्राणरूप है। जो प्राण है, वह आयु है। वह अधिदैवत में एकरूप से विद्यमान है। यही प्राण पुरुष (शरीर) में प्रविष्ट होकर दस प्रकार का बन जाता है। यह शतपथ श्रुति शरीर में प्राण को दशविध सिद्ध कर रही है।

शरीर में प्रविष्ट यह प्राण बृहती (36 अक्षरात्मक) छन्दोमय होने से 36 अक्षरात्मक है। इसका प्रत्येक अक्षर दशाक्षरात्मक विराट् सम्पत्ति से युक्त होने के कारण दशविध बन कर 360 अक्षरात्मक बन जाता है। वही प्राण **"तदेतत् सहस्त्रं तत्सर्वम्। तानि दश। दशेति वै सर्वम्। एतावती हि संख्या। दश दशतस्तच्छतम्। दश शतानि तत्सहस्त्रम्। तत्सर्वम्"**[2] अर्थात् जो यह सहस्त्र है, वह सर्व है। वही दस है। क्योंकि दस ही सर्व है। इतनी ही संख्या हैं। क्योंकि दश को दशगुणित करने पर शतसंख्या बनती है। 'सौ दस' अर्थात् शतसंख्या को दस से गुणित करने पर सहस्त्र संख्या बनती है और सहस्त्र ही सर्व है' इस ऐतरेय श्रुति में बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक अक्षर को पुनः दशविध करने पर यही प्राण 3600 अक्षरात्मक बन जाता है और पुनः प्रत्येक अक्षर को दशविध करने पर 36000 अक्षरात्मक बन जाता है। किन्तु यह सहस्त्र दश से भिन्न नहीं है। अतः 36 सहस्त्राक्षरात्मक होते हुए भी 360 अक्षरात्मक संवत्सरप्राण से भिन्न नहीं है। यह बृहतीसहस्त्रात्मक (षट्त्रिंशत्सहस्त्रात्मक) प्राण ही है। अतः 36 सहस्त्र दिन अर्थात् 100 वर्ष ही पुरुष की आयु कहलाती है। इसी तथ्य का निरूपण **"अ इति ब्रह्म। तत्रागतमहमिति, तद्वा इदं बृहतीसहस्त्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहतीसहस्त्रस्य सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्त्राणि भवन्ति तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्त्राणि भवन्ति। जीवाक्षरेणैव जीवाहराप्नोति। जीवाह्ना जीवाक्षरम्"**[3] अर्थात् अकार अक्षर ब्रह्म का वाचक है। उसमें आगत तत्व (प्राण) अहम् कहलाता है। यह बृहतीसहस्त्रात्मक (षट्त्रिंशत्सहस्त्रात्मक) है। बृहतीसहस्त्रात्मक इस प्राण में 36000 (छत्तीस हजार) अक्षर हैं। इतने ही हजार अर्थात् 36 हजार ही पुरुष की आयु के दिन हैं। जीवाक्षर के द्वारा ही जीव के अहः (दिन) को प्राप्त करता है और जीव के अहः (दिन) के द्वारा जीवाक्षर को प्राप्त करता है' यह ऐतरेय श्रुति तथा **'प्राणो वा आयुः। प्राण उ ह्यमृतम्। यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः'**[4] यह प्राण ही आयु है। प्राण ही अमृत है। जब तक इस शरीर में यह प्राण है तभी तक आयु (जीवन) है' यह कौषीतकि श्रुति बतला रही है।

---

1. शत. 5.2.3.10
2. ऐत०आ० 2.3.4.5
3. ऐत०आ० 2.3.8.8
4. कौ.ब्रा.उ.

यह प्रज्ञानात्मा ही शरीर को धारण करने वाला है। अतः शरीरविधारक प्रज्ञानात्मा के उत्क्रान्त हो जाने पर यह पार्थिव शरीर भी सजातीय आकर्षण से आकृष्ट होकर पृथिवी पर गिर जाता है नष्ट हो जाता है। इसी रहस्य का निरूपण– **"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा। या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोतिष्ठतः"**[1] अर्थात् प्रज्ञात्मारूप प्राण इस शरीर को धारण कर उठाता है। जो प्राण है वही प्रज्ञा। जो प्रज्ञानात्मा जीव है वही प्राण है। ये दोनों प्राण साथ ही इस शरीर में रहते हैं और साथ ही उत्क्रान्त होते हैं "इस कौषीतकि श्रुति में कहा गया है। अस्तु प्राण सर्वत्र व्याप्त है। **प्राणे सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च**[2] प्राण से ही अन्तरिक्ष और वायु की उत्पत्ति हुई है। ये दोनों प्राणरूपी पिता की सदा सेवा करते हैं।" प्राण ही कालचक्र है। दिन और रात्रि प्राण एवं अपान हैं। प्राण की ब्रह्म के रूप में उपासना करनी चाहिए। प्राण ही सब देवों का रूप है। वही वाणी में अग्नि है, चक्षु में सूर्य है और मन में चन्द्रमा। मैत्रायणी आरण्यक में प्राण को अग्नि और परमात्मा बताया गया है। **प्राणोऽग्निः परमात्मा।**[3] अस्तु पुनरपि इसको इस प्रकार भी जाना जा सकता है कि जिस समय विधाता प्रकृति से सृष्टि निर्माण करता है, तो उस समय मूल प्रकृति से महान् महान् से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रायें इत्यादि क्रम से बहुविध पदार्थ व तत्त्व एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं। जिसके फलस्वरूप यह असंख्य पदार्थों से युक्त संसार व ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है। अस्तु जब वही मायावी इस समस्त माया को समेटता है अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में प्रलयकाल प्रारम्भ होता है। तब जिस प्रकार समस्त पदार्थ एक सूत्र में बँधे हुये अपने अपने कारणों से निकलते चले गये थे। उसी प्रकार ही वे अपने अपने कारणों में लीन होते चले जाते हैं और अन्त मे वही सत्वरजस्तमस् की साम्यावस्था मूल प्रकृति शेष रहती है।अस्तु इसी प्रकार की प्रक्रिया हमारे शरीर में भी होती है। हमारा शरीर भी एक छोटा सा ब्रह्माण्ड है। प्रकृति के अंशो से ही इसके सब अवयवों का निर्माण हुआ है। जो शरीर की शक्तियाँ हैं वे मृत्यु समय पर आत्मा मे लीन होती हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती जीव की स्वाभाविक शक्तियों का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि "जीवात्मा की मुख्य एक प्रकार की शक्ति है। परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन 24 चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है।[4]

---

1. कौ.ब्रा.उ.
2. ऐत०आ०
3. मैत्रा०आ० 6.9
4. सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास

अस्तु मातृगर्भ मे आने पर शनैः शनैः इन शक्तियों का प्रसार स्थूल शरीर में होता जाता है। और अन्त में शरीरधारी पुरुष की उत्पत्ति हो जाती है। मातृगर्भ से बाहर आने पर ये शक्तियाँ स्वयं मनुष्य में प्रवृद्ध होती है। और फिर अन्त में मृत्यु के समय पुरुष की मन व इन्द्रियाँ आदि सूक्ष्म शक्तियाँ अपने अपने पूर्व आयतनों में लीन होती जाती हैं और अन्त में आत्मा में स्थित हो इस स्थूल शरीर को छोड़ देती हैं। अस्तु उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड के सभी अवयव एकदूसरे के माध्यम से नित्य ही किसी रज्जु या तन्तु के द्वारा तदधिष्ठान चेतन तत्त्व द्वारा नियन्त्रित होते हैं। आरण्यकादि शास्त्रों में उसी रज्जु या तन्तु को प्राण नाम से अभिहित किया गया है। इस तथ्य को बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेयारण्यक में किञ्चित् पाठ भेद से एक प्रसिद्ध आख्यायिका के माध्यम से समझाया गया है कि सम्पूर्ण सृष्टि में पुरुष सर्वोत्कृष्ट रचना है अतः उसे उक्थ (सर्वोत्कृष्ट) कहा गया है।[1] पृथिवी के समान उसका मुख,[2] अन्तरिक्ष के समान उसकी नासिका[3] तथा द्युलोक के समान उसका ललाट उक्थ है।[4] इस पुरुष का अग्नि के समान चायनीय (चयन करने योग्य) प्राण है।[5] परमात्मा ने पुरुष के अन्दर पैरों की ओर से प्रवेश किया।[6] उसने पैरों से प्रवेश करके ऊर्ध्व मुख होकर व्याप्त हुआ। अतः पैरों के ऊपर का भाग उरु (जंघा) कहलाने लगा।[7] उससे अधिक विस्तृत होने के कारण ऊरु के ऊपर का भाग उदर (उरु से विस्तृत) हो गया।[8] उदर के ऊपर भी विस्तृत होने के कारण उदर के ऊपर का भाग ऊरु (वक्षःस्थल, हृदय) कहलाने लगा।[9] फिर भी परमात्मा का ऊपर की ओर सञ्चरण होता गया, अतः वह ऊर्ध्व भाग शिर हो गया।[10] नेत्र, श्रोत्र, मन, वाक्, और प्राण शिर के ही आश्रित होते हैं।[11] नेत्रादि का आश्रय होने के कारण ही यह शिर कहलाता है।[12] शिरस्थ नेत्रादि की अपेक्षा प्राण की श्रेष्ठता

---

1. ऐत०आ० 2.1.2.6
2. ऐत०आ० 2.1.2.7
3. ऐत०आ० 2.1.2.9
4. ऐत०आ० 2.1.2.12
5. ऐत०आ० 2.1.2.10
6. ऐत०आ० 2.1.4.1
7. ऐत०आ० 2.1.4.2
8. ऐत०आ० 2.1.4.3
9. ऐत०आ० 2.1.4.5
10. ऐत०आ० 2.1.4.6
11. ऐत०आ० 2.1.4.7
12. ऐत०आ० 2.1.4.8

को एक आख्यायिका के माध्यम से प्रतिपादन किया गया है। यह आख्यायिका बृहदारण्यक, छान्दोग्य और ऐतरेय आरण्यक में कुछ भेद से वर्णित है। उसके अनुसार एक बार नेत्रादि के अभिमानी देवताओं ने परस्पर अहिंसाभाव से स्पर्धा करते हुए अपने-अपने को अन्य से श्रेष्ठ कहने लगे। श्रेष्ठ होने के कारण उक्थ में 'मेरी उपासना (ध्यान) करनी चाहिए' इस प्रकार बात निश्चित हुई। परीक्षा में यह शर्त थी कि क्रमशः सभी लोग शरीर से बाहर निकलें। जिसके निकलने से शरीर का पतन हो जाएगा वही श्रेष्ठ माना जाएगा तथा वही उक्थ में ध्येय होगा।[1] उन देवताओं की परीक्षा प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम नेत्र के अभिमानी देवता शरीर से निकल गये। उस पुरुष का दर्शन का कार्य बन्द हो गया। किन्तु अन्य देवताओं के कार्य, श्रोत्रक्रिया, मननक्रिया, बोलने की क्रिया इत्यादि होती रही किन्तु शरीर का पतन नहीं हुआ। इसी प्रकार क्रमशः श्रोत्र इत्यादि के देवता बाहर निकले किन्तु उस देवता के कार्य के अतिरिक्त अन्य खाने-पीने इत्यादि कार्य होते रहे। अन्त में प्राण शरीर से बाहर निकला। प्राण के शरीर से बाहर निकलते ही उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ बन्द हो गयीं तथा शरीर पतित हो गया।[2] वह शरीर शीर्ण हो गया। इसी शीर्ण होने के कारण ही यह शरीर (शीर्ण होने वाला) कहा जाता है।[3] पुनरपि अपने-अपने को उक्थ कहते हुए नेत्रादि के अभिमानी देवताओं ने शरीर में प्रवेश करने का विचार किया और निश्चय किया कि **इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति (प्राणः) तस्मादेतदेवोक्थ-मुपासीतेति।।**[4] जिसके प्रवेश करने पर शरीर उठ जाएगा वही उक्थ होगा।[5]

पहले वाक् के अभिमानी देवता ने प्रवेश किया किन्तु शरीर सोता ही रहा। इसी प्रकार क्रम से चक्षु, श्रोत्र, मन के अभिमानी देवों ने प्रवेश किया किन्तु शरीर उठा नहीं प्रत्युत सोता ही रहा। अन्त में प्राण ने प्रवेश किया **प्राणः प्रविशत्तत्प्राणे प्रपन्न उदतिष्ठत्तदुक्थमभवत् इति तदेतदुक्थाँ३ प्राण एव इति।।**[6] प्राण, प्रविष्ट हुआ तब शरीर उठ गया। इस प्रकार प्राण उक्थ हो गया। इस तथ्य को ऋषि ने इस प्रकार वर्णित किया है- **अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवं हैवेमान्प्राणान्त्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति।।**[7] अर्थात् प्राण बाहर

1. ऐत०आ० 2.1.4.9
2. ऐत०आ० 2.1.4.10
3. ऐत०आ० 2.1.4.11
4. शां०आ० 5.3
5. ऐत०आ० 2.1.4.13
6. ऐत०आ० 2.1.4.14
7. बृहदा० 6.1.13

निकलने को उद्यत हुआ तब उसने दूसरे इन्द्रियादि को ऐसे उखाड़ा जैसे खूंटे से बंधा अश्व खूंटे को उखाड़ फेंके। इससे इन्द्रियाँ प्राण के निकट जाकर बोलीं कि तुम ही हम सभी में श्रेष्ठ हो। इसलिए प्राण ही उक्थ है-ऐसा जानना चाहिए।[1] तब नेत्रादि के अभिमानी देवताओं ने कहा कि तं देवा **अब्रूवन्त्वमुक्थमसि त्वमिदं सर्वमसि तव वयं स्मस्त्वमस्माकमसीति॥**[2] हे प्राण! तुम उक्थ हो। सभी शरीर के व्यापार तुम्हारे अधीन हैं अतः यह सम्पूर्ण जगत् तुम ही हो। हम तुम्हारे भृत्य हैं और तुम हमारे स्वामी हो। **उत्तिष्ठत्यनेन देवताप्रसाद इत्युक्थम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार उससे देवता प्रसन्न होते हैं अतः यह उक्थ कहलाता है। इसी को दृष्टि में रखकर प्रश्नोपनिषद् के ऋषि ने कहा है कि जो भी तीनों लोको में प्रतिष्ठित है वह प्राण के ही वश में है।[3] प्राण का स्वरूप प्रकरणशः भिन्न भिन्न है, प्राणो वै ब्रह्म। प्राणो वावैनं तदाविशत्।[4] प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः।[5] ब्रह्म को भी प्राण कहा है। तवल्कार आरण्यक के अनुसार वह प्राणों का भी प्राण है। क्योंकि प्राण ब्रह्म द्वारा ही प्राणित है। शतपथकार प्राण की सर्वप्रथम उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहते हैं- **ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तत् स्वराज्यं पर्य्येत्।**[6] अर्थात् ब्रह्म नामक स्वयम्भू प्रजापति ने तप किया, कि वह अपने स्वराज्य को प्राप्त करे। **असद् वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति? ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति? प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मादृषयः॥**[7] 'अर्थात् वह विश्वमूल "असत्" तत्व 'ऋषि' नामक तत्व विशेष ही था। वह ऋषि क्या था? ऋषि तत्त्व का क्या स्वरूप था? वह प्राण ही ऋषि था। प्राण का नाम ऋषि क्यों हुआ। इसके लिये कहते हैं– उन प्राणों ने अपने तपोयुक्त श्रम से इस विश्व निर्माण की कामना से अपने आपको गतिशील बनाया। इस "अरिषत्" लक्षण गति भाव के सम्बन्ध से ही वह असत् प्राण "ऋषि" नाम से प्रसिद्ध हुआ। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द से अतीत अर्थात् सबसे असङ्ग मौलिक तत्त्व ही वह ऋषि प्राण है, जिसे नैसर्गिक गति भाव के कारण ऋषि नाम से व्यवहृत किया है। प्राण का वर्णन विभिन्न ऋषियों के रूप में किया गया है यथा- गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ आदि सभी ऋषि प्राण के ही रूप

---

1. ऐत०आ० 2.1.4.15
2. ऐत०आ० 2.1.4.17
3. प्रश्नो० 2.13
4. जै 3.7.1.2
5. कौषी० आ० 4.1
6. शत० 13.7.1.1
7. शत० 6.1.1.1

है। जैसे- प्राण विश्व का मित्र है, अतः वह विश्वामित्र है। प्राण शरीर में निवास करता है, अतः वह वसिष्ठ है।

शतर्चिन्- एष इमं लोकमभ्यार्चत्पुरुषरूपेण य एष तपति प्राणो वाव तदभ्यार्चत्प्राणो ह्येष य एष तपति तं शतं वर्षाण्यभ्यार्चत्तस्माच्छतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति तम् यच्छतं वर्षाण्यभ्यार्चत्तस्माच्छतर्चिनस्तस्माच्छतर्चिन इत्याचक्षत एतमेव (प्राणं) सन्तम्।[1] अर्थात् सूर्यरूप प्राण सौ वर्ष तक मनुष्य के शरीर को अर्चनीय बनाये रखने के कारण शतर्चिन् कहलाता है। अतः उस प्राण को शतर्चिन् ऋषि के रूप में जानना चाहिए।

मध्यम- स इदं सर्वं मध्यतो दधे यदिदं किञ्च स यदिदं सर्वं मध्यतो दधे यदिदं किञ्च तस्मान्माध्यमास्तस्मान्माध्यमा इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।।[2] अर्थात् (प्राण) इन सभी शरीरधारियों के मध्य में होता है। यह जो कुछ भी शरीर जाना जाता है उस सभी को (यह प्राण) मध्य में धारण किया है। अतः (प्राण रूप) मध्य में होने के कारण प्राण को मध्यम कहा गया है।

गृत्समद- प्राणो वै गृत्सोऽपानो मदः स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद्गृत्सम-दस्तस्माद्गृत्समद इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।।[3] सोते समय प्राण वाक् इत्यादि इन्द्रियों का निगरण कर लेता है अतः प्राण गृत्स (निगरण करने वाला) कहलाता है। रेत विसर्जन का मद होने के कारण अपान को मद कहा जाता है। इसी कारण प्राण और अपान को गृत्समद कहा जाता है। अतः इन दोनों से युक्त होने के कारण प्राण और अपान को गृत्समद ऋषि के रूप में जानना चाहिए।

विश्वामित्र- तस्येदं मित्रमासीद्यदिदं किञ्च तद्यदस्येदं विश्वं मित्रमासीद्यदिदं किञ्च तस्माद्विश्वामित्रस्तस्माद्विश्वामित्र इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।[4] अर्थात् उस (भोक्ता प्राण) का (भोग्य होने के कारण) विश्व ही मित्र है। तो जो इस (प्राण) का विश्व मित्र है, इसी कारण जो कुछ भी है, सम्पूर्ण विश्व मित्र है। इसीलिए इसे विश्वामित्र कहा जाता है। यही होने के कारण प्राण का यह स्वरूप है। अतः प्राण को विश्वामित्र कहा गया है।

वामदेव- तं देवा अब्रूवन्नयं वै नः सर्वेषां वाम इति तं यद्देवा अब्रूवन्नयं वै नः सर्वेषां वाम इति तस्माद्वामदेवस्तस्माद्वामदेव इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।।[5]

---

1. ऐत०आ० 2.2.1.1
2. ऐत०आ० 2.2.1.2
3. ऐत०आ० 2.2.1.3
4. ऐत०आ० 2.2.1.4
5. ऐत०आ० 2.2.1.5

अर्थात् वाग् इत्यादि के अभिमानी' देवता उस (प्राण) को उद्दिष्ट करके परस्पर कहा कि यह (प्राण) ही हम सभी में वाम (वननीय = भजनीय) है। जो देवताओं ने परस्पर कहा कि हम सभी में वाम है इसीलिए वह वामदेव हो गया। इसलिए इसे वामदेव कहा जाता है।

अत्रि- स इदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत यदिदं किञ्च स यदिदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत यदिदं किञ्च तस्मादत्रयस्तस्मादत्रय इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।[1] अर्थात् उस प्राण ने इस सम्पूर्ण (शरीरजात अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय) की पापों से रक्षा करता है। जो कुछ भी (शरीरजात) है इस सभी को जो उस (प्राण) ने रक्षित किया उसी से अत्रि हुए। अतः उसे अत्रि कहा जाता है।

भरद्वाज- एष उ एव बिभ्रद्वाजः प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्ति यद्बिभर्ति तस्माद्भरद्वाजस्तस्माद्भरद्वाज इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।[2] अर्थात् यह (प्राण) बिभ्रद्वाज है। वाज का अर्थ है - प्रजा। उस प्रजा को यह (प्राण) अपने प्रवेश से पोषित करता है। जो यह प्रजा को पोषित करता है इसीलिए भरद्वाज है। इसी कारण यह (प्राण) भरद्वाज कहलाता है।

वसिष्ठ- तं देवा अब्रूवन्नयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठ इति तं यद्देवा अब्रूवन्नयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठ इति तस्माद्वसिष्ठस्तस्माद्वसिष्ठ इत्याचक्षत एवमेव सन्तम्।।[3] अर्थात् (वागादि के अभिमानित) देवताओं ने उस (प्राण) के विषय में परस्पर कहा कि यह (प्राण) हम लोगों का वसिष्ठ (अपने प्रवेश से निवास का हेतु) है। इस प्रकार उसके विषय में जो देवताओं ने कहा कि यह हम लोगों का वसिष्ठ है इसी कारण वह वसिष्ठ है। अर्थात् प्राण शरीर में प्रवेश करके निवास का हेतु है अतः उसे वसिष्ठ कहा जाता है।

प्रगाथ- स इदं सर्वमभिप्रागाद्यदिदं किञ्च स यदिदं सर्वमभिप्रागाद्यदिदं किञ्च तस्मात्प्रगाथास्तस्मात्प्रगाथा इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।[4] अर्थात् वह (प्राण) इस सम्पूर्ण (शरीरजात) को (अपने प्रवेश से) सभी ओर प्रगतवान् किया। यह जो कुछ (शरीरजात) है सभी को इसने प्रगतवान् किया है जो इसने इन सभी को प्रगाथ (प्रगतवान्) किया इस कारण यह प्रगाथ है। इसलिए इसको प्रगाथ कहा जाता है। प्राण शरीर में प्रवेश करके उसे प्रगतवान् करता है अतः वह प्रगतवान् (प्रगाथ) कहलाता है।

---

1. ऐत०आ० 2.2.1.6
2. ऐत०आ० 2.2.2.1
3. ऐत०आ० 2.2.2.2
4. ऐत०आ० 2.2.2.3

पवमान- स इदं सर्वमभ्यपवयत यदिदं किञ्च स यदिदं सर्वमभ्यपवयत यदिदं किञ्च तस्मात्पावमान्यस्तस्मात्पावमान्य इत्याचक्षत एतमेव सन्तम्।[1] अर्थात् इस प्राण ने इस समस्त (शरीरजात) को पवित्र किया है। यह जो कुछ भी शरीरजात है सभी को पवित्र किया है। जो यह इस समस्त शरीरजात को पवित्र किया, इसी कारण यह पवमान है। प्राण के कारण ही सभी शरीरधारियों का शरीर पवित्र माना जाता है अतः उसे पवमान कहा जाता है।

अयास्य- इन सबमें मुख्य प्राण अयास्य आङ्गिरस है महर्षि याज्ञवल्क्य बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखते है **'सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः? प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद् यस्मात् कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः।**[2] यह अयास्य प्राण आङ्गिरस है। आङ्गिरस अङ्ग के रस को कहते हैं। और इसे ही अङ्गों का प्राण भी कहा जाता है। इस कारण जिस किसी अङ्ग से यह रस अर्थात् प्राण उत्क्रमण कर जाता है, वही अङ्ग शुष्क हो जाता है। अत एव अयास्य अंगों का रस भी है, और प्राण भी है। **अथ प्राणमत्यवहत्। तम्परेण मृत्युं न्यदधात्। स वायुरभवत्। अथाऽऽत्मने केवलमेवाऽन्नाद्यमागायत्। स एष एवाऽयास्यः। आस्ये धीयते। तस्मादयास्यः। यद्वेवा [ऽयम] आस्य रमते तस्मादेवाऽयास्यः। स एष एवाऽङ्गिरसः। अतो हीमान्यङ्गानि रसं लभन्ते। तस्मादाङ्गिरसः। यद्वेवैपामङ्गानां रसस्तस्माद्वेवाऽङ्गिरसः। तं देवा अब्रूवन् केवलं वा आत्मनेऽन्नाद्यमागासीः। अनु न एतस्मिन्नन्नाद्य आभज। एतदस्याऽनामयत्वमस्तीति। तं वै प्रविशतेति। स वा आकाशान् कुरुष्वेति। स इमान् प्राणानाकाशानकुरुत। तं वागेव भूत्वाऽग्निः प्राविशन्मनो भूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वाऽदित्यश्श्रोत्रम्भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः। एषा वै दैवी परिषद्दैवी सभा दैवी संसत्।।**[3] अर्थात् यह मुख्य अयास्य प्राण ही मृत्यु को धारण करता है। यह ही अन्नाद्य है। इसी प्राण के प्रतीकभूत उक्थ से यह सम्पूर्ण आकाश, चन्द्रमा, पृथिवी, वायु, जल और आदित्य ज्योतियाँ (अग्नि) उत्पन्न हुए हैं। यह आत्मा का प्रतीकभूत पाँच प्रकार वाला है। इस पञ्चभूत आत्मोक्थ से समस्त शरीर (दृश्य) जगत् उत्पन्न हुआ है और उसी उक्थ में संहार के समय विलीन हो जाता है, अतः इन सभी उत्पन्न हुए प्राणिजात का यह आत्मोक्थ आश्रय है। इन्हें आरण्यकों में विभूति से अभिहित किया गया है। यही दैवी परिषद् है। **अथ प्राणमब्रूवन् कथमु त्वं श्रेष्ठोऽसीति सोऽब्रवीत्प्राणो भूत्वाऽग्निर्दीप्यते। प्राणो भूत्वा वायुराकाशमनुभवति।**

---

1. ऐत०आ० 2.2.2.4
2. बृहदा० 1.3.19
3. तवल्का०आ० 2.4.2.4-13

प्राणो भूत्वाऽऽदित्य उदेति। प्राणादन्नम्प्राणाद्वाक्।।[1] इस प्रकार प्राण इनका जनक है। तथा यह सम्पूर्ण दैवी संसद् इस अयास्य आङ्गिरस प्राण से ही प्राणित हैं।

अस्तु इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राणरूप पुरुष से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाओं तथा जल की उत्पत्ति हुई है। इसी से अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और वरुण भी उत्पन्न हुए हैं। और सभी प्राणों से ही क्रियाशील हैं। अतः श्रुति कहती है कि- **एषा हीदं देवता सर्वं प्राणयत। तद् यत् प्राणयत तस्मात्प्राणः।**[2] **यद्वै प्राणेनान्नमात्मन्प्रणयते तत्प्राणस्य प्राणत्वम्।**[3] प्राण का प्राण पना यही है कि सभी चराचर इससे अनुप्राणित हैं। इससे जीवित हैं, क्रियावान् हैं। जिस किसी भी पदार्थ में प्राण का संचरण समाप्त हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। मृत्यु को प्राप्त होता है।

1. तवल्का०आ० 3.8.2.5-6
2. जैमि० 3.377
3. शत० 12.9.1.14

वेदार्थ प्रक्रिया में स्वरों का महत्व : एक अध्ययन

-चन्द्रगुप्त

शोध छात्र, वेदविभाग,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वेदों को महर्षि तथा परवर्ती आचार्यों ने अतीत अनागत अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कराने वाली महान् ज्ञान राशि बताया है। यह संपूर्ण ज्ञान राशि महर्षि कृष्ण द्वैपायन (वेद व्यास) के समय तक अविभक्त थी।[1] उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद इन 4 राशियों में उसका विश्लेषण करके अपने चार शिष्यों को चारों वेद पढ़ायें। तब से उन्हें वेदव्यास कहा जाने लगा। आगे चलकर गुरु शिष्य परंपरानुगत संप्रदाय के भेद से तथा उनकी शाखा प्रशाखा के विस्तार से वेद राशि के अनेक भेद हो गए जिन्हें वेद शाखा कहा जाता है।

व्याकरण महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि के समय में 1131 वेद शाखाएं उपलब्ध थी, उतनी ही प्रत्येक शाखा के ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक, तथा उपनिषदें भी विद्यमान थी। जैसे कि महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उन्हीं के अवदात्त लेखन से स्पष्ट है- चत्वारो वेदा साङ्गा सरहस्या बहुधा विभिन्न एकशतम् अध्वर्युशाखा (यजुर्वेद की 101 शाखाएं), सहस्रवर्त्मा सामवेद (सामवेद की 1000 शाखाएं), एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् (ऋग्वेद की 21 शाखाएं), नवधाथर्वाणो वेद (अथर्ववेद की 9 शाखा)।[2]

इतनी पुष्कल वेद राशि के इन वर्षों में काल कवलित होते होते वेद की कुल 11 शाखाएं आज उपलब्ध हैं। ऋग्वेद की 21 शाखा में से आज एक मात्र शाकल शाखा सस्वर विद्यमान है, जो ऋग्वेद के नाम से प्रसिद्ध है। यजुर्वेद की भी शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के विभाग से सर्वयोग 6 वेद शाखाएं वर्तमान हैं। जिनमें दो वेद शाखाएं शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता के नाम से सस्वर प्रसिद्ध है। शेष चार शाखाएँ कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक तथा कपिष्ठल नाम से प्रसिद्ध है। इनमें तैत्तिरीय संहिता तथा मैत्रायणी संहिता पर स्वर चिह्न है। काठक संहिता में कहीं कहीं और कपिष्ठल संहिता में सर्वथा नहीं है।

---

1. स्कन्दपुराण (12.6)
2. पातंजल महाभष्य (पस्पशाह्निक)

सामवेद की 1000 शाखाओं में से आज केवल 3 शाखाएं शेष है। कौथुम संहिता, राणायनी संहिता तथा जैमिनी संहिता। अथर्ववेद की 9 शाखाओं में से आज दो शाखाएं शेष है शौनक संहिता तथा पैप्पलाद संहिता। पैप्पलाद संहिता में कहीं-कहीं स्वर चिह्न हैं।

स्वर विवेचन

स्वर शब्द **'स्वृ शब्दोपतापयोः'**[1] धातु से करण कारक में घ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।[2] निघण्टु 2/14 में स्वरति पद गत्यर्थक आख्यातों में पढा है। इसलिए स्वर शब्द का निर्वचन होगा-

स्वर्यन्तेऽर्था एभिः।

अर्थात् - जिनसे पदों के अर्थ जाने जाए, वे स्वर कहाते हैं।

महर्षि पतंजलि मुनि के अनुसार

"स्वयं राजन्ते इति स्वराः"

जो स्वयं प्रकाशित हो, उच्चरित हो, जिनकी सहायता से व्यंजन उच्चरित होते हैं, ध्वनित होते हैं वे स्वर कहाते हैं।[3]

स्वरों का उच्चारण विना किसी की सहायता के (अर्थात् अन्य किसी वर्ण की सहायता लिये विना ही और स्थानों के स्पर्श के विना ही स्पष्टता से देर तक) होता है। इसीलिये इन्हें स्वयं प्रकाशित वर्ण कहा गया है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक आदि धर्म इन स्वरों पर ही आश्रित हैं। अर्थात् स्वर इन धर्मों के धर्मी है।[4]

स्वर के उदात्त, अनुदात्त स्वरित यह तीन भेद हैं। यह वर्ण के धर्म हैं। यद्यपि अ, इ, उ इत्यादि स्वरों के उच्चारण में दूसरे सहायक वर्ण की अपेक्षा नहीं होती।

पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में उदात्तादि स्वर की परिभाषा करते हुए कहा है-

उच्चैरुदात्तः।।[5]

---

1. धातुपाठ भ्वादिगण 666
2. अष्टाध्यायी 3.3.118
3. महाभाष्य 1.2.29
4. शिक्षा शास्त्रम्, पृ.19
5. अष्टाध्यायी 1.2.29, वाजसनेयी प्रातिशाख्य 1.108, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 1.38

श्री पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी इस सूत्र की व्याख्या करते हैं, ताल्वादि स्थानों से वर्णों का उच्चारण होता है, उन स्थानों में जो ऊर्ध्व भाग है, उन ऊर्ध्व भागों से उच्चरित जो अच् वह उदात्त संज्ञक होता है।[1]

यहां महाभाष्यकार कहते हैं कि– "आयामोदारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य"। आयामः = शरीर के सब अवयवों को सख्त कर लेना। दारुण्यम् = स्वर में रुखाई होना। अणुता खस्य = कण्ठ को संकुचित कर लेना। ऐसे ऐसे यत्नों से बोले जानेवाला जो अच् वह उदात्त संज्ञक होता है।[2]

नीचैरनुदात्तः।।[3]

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी कहते हैं, ताल्वादि स्थानों में जो नीचे भागों से बोला जानेवाला अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है।[4]

यहां भी महाभाष्यकार कहते हैं कि– **"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य"**। अन्ववसर्गः = शरीर के अवयवों को ढीले कर देना। मार्दवम् = स्वर को मृदु कोमल करके बोलना। उरुता खस्य = कण्ठ को फैला करके बोलना। इन इन प्रयत्नों से बोले जानेवाला अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है।[5]

समाहारः स्वरितः।।[6]

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी कहते हैं, जिस अच् में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों गुणों का समाहार हो, अर्थात् थोडी थोडी मात्रा में दोनों गुण मिले हों, ऐसा अच् स्वरितसंज्ञक होता है।[7]

ऋक्प्रातिशाख्य में कहा गया है, **"एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः"**। उदात्त एवं अनुदात्त इन दोनों पूर्वस्थितों का एक ही अक्षर में समावेश होने पर, वह अक्षर स्वरित स्वरवाला हो जाता है।

इन सूत्रों के 'उच्चैः' और 'नीचैः' शब्द उच्चारण में विलक्षण तारतम्य की संभावना की ओर वक्ता को स्पष्ट करते हैं। इसी लिए आस्य के अन्तर्वर्ती कण्ठ, तालु आदि स्थानों में उच्चारण की उत्कृष्टता तथा अपकृष्टता तथा दोनों धर्मो की सह

---

1. अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति (1.2.29)
2. पातंजल महाभाष्य 1.2.29, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 22.9
3. अष्टाध्यायी 1.2.30, वाजसनेयी प्रातिशाख्य 1.109, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 1.39
4. अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति (1.2.30)
5. पातंजल महाभाष्य 1.2.30, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 22.10
6. अष्टाध्यायी 1.2.31, वाजसनेयी प्रातिशाख्य 1.110, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य 1.40
7. अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति (1.2.31)

स्थिति[1] की योग्यता के माध्यम से हम उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीनों स्वरों की अभिव्यक्ति करते हैं। इस अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है। पारिभाषिक शब्दों में उदात्त की अभिव्यक्ति के लिए इसी प्रयत्न को आयाम, अनुदात्त की अभिव्यक्ति के लिए विश्रम्भ तथा स्वरित की अभिव्यक्ति के लिए आक्षेप कहा गया है।[2] इस वैदिक स्वर की व्युत्पत्ति के विषय में अमरनाथशास्त्री जी कहते हैं– "स्वर्यते उच्चाधो तिर्यग् भागैरुच्चार्यते इति स्वरः"।[3]

वैदिक भाषा में स्वरों की सत्ता का अति महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इन स्वरों के कारण ही सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय प्राचीन काल से आज तक यथावत् प्राप्त होता है। स्वरों के महत्व के विषय में वेङ्कट माधव ने कहा है–

अंधकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलित क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति।।[4]

अर्थात् जैसे अंधकार में दीपक की सहायता से चलता हुआ व्यक्ति कहीं ठोकर नहीं खाता उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किए गये अर्थ स्फुट अर्थात् स्पष्ट संदेह रहित होते है।

स्वर के माहात्म्य को पुष्टि करते हुवे पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी कहते है,[5] वेद के वास्तविक अभिप्राय तक पहुंचने के जितने साधन हैं, उन में स्वर सब से प्रधान है। व्याकरण और निरुक्त जैसे प्रमुखशास्त्र भी स्वर - शास्त्र के अङ्ग बन कर ही वेदार्थ- ज्ञान में सहायक होते है। स्वर - शास्त्र का विरोध होने पर ये दोनों शास्त्र पंगु बने रहते हैं। स्वर ज्ञान के बिना न केवल मन्त्र का वास्तविक अभिप्राय ही अज्ञात रहता है, अपितु स्वरशास्त्र की उपेक्षा से अनेक स्थानों में अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। इसलिए वेद के सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुँचने के लिए उदात्त आदि स्वरों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। स्वरों के ज्ञान के लिए उनका लक्षण जानना अत्यावश्यक है।

वर्त्तमान समय में उपलब्ध सस्वर वैदिक ग्रन्थों में भी एक स्वर्य नहीं है। यथा–

---

1. समाहारः स्वरितः (अष्टाध्यायी 1.2.31)
2. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते स्वरास्त्रयः (ऋक्प्रातिशाख्य 3.1)
3. वैदिक स्वर समीक्षा, पृ. 8.
4. वैदिक स्वरानुक्रमणी, वेङ्कट माधव।
5. वैदिक स्वर मीमांसा, पृ. 1.

ऋग्वेद (काश्मीर पाठ के अतिरिक्त), यजुर्वेद (माध्य. काण्व. तैत्ति.) तथा अथर्ववेद में प्रयुक्त नीचे की पड़ी रेखा अनुदात्त का चिह्न है। यथा–

अ॒ग्निमी॑ळे।।[1]

इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा।।[2]

ये त्रि॑ंष॒प्ताः।।[3]

शतपथ ब्राह्मण में नीचे की पड़ी रेखा उदात्त का चिह्न है। यथा–

इष॒े त्वोर्जे त्वे॒ति।।[4]

ऋग्वेद (काश्मीर पाठ से अन्यत्र),[5] यजुर्वेद (माध्यन्दिन, काण्व, तैत्तिरीय) तथा अथर्ववेद में ऊपर की खडी रेखा स्वरित का चिह्न है। यही ऊपर की खड़ी रेखा ऋग्वेद के काश्मीर पाठ तथा मैत्रायणी संहिता में उदात्त के लिए प्रयुक्त होती है। यथा–

अग्निमी॑ळे।।[6]

इ॒षे॑ त्वा॒ सुभू॒तां॑य।।[7]

सामवेद में उदात्तादि स्वरों का अङ्कन रेखाओं के स्थान में 1,2,3 संख्याओं द्वारा होता है। यथा–

अ[2]ग्न[3] आ[2] या[2]हि।।[8]

अतः वेद में इस प्रकार की भिन्नता से स्वर विषयक ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन हो गया है।

वैदिक और लौकिक साहित्य में स्वर शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। जैसे–

---

1. ऋग्वेद संहिता (1.1.1)
2. यजुर्वेद संहिता 1.1
3. अथर्ववेद संहिता 1.1.1
4. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण 27.1.2
5. वैदिक स्वर मीमांसा, पृ. 4।
6. ऋग्वेद संहिता 1.1.1
7. मैत्रायणी संहिता 1.1.1
8. सामवेद पूर्वार्चिक 2.21

वैदिक साहित्य में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के लिये स्वर शब्द का विशेष रूप उच्चारण होता है। उदात्त आदि स्वर का वर्त्तमान में उपस्थित नारदीय, आपिशलि, पाणिनीय, चान्द्र आदि शिक्षा ग्रंथों में प्रयोग देखा जाता है।

वेद में स्वर शब्द वाक् अर्थ में प्रयुक्त देखा जाता है। यथा–

अधि स्वरे।।[1]

यास्काचार्य कृत निघण्टु 1/11 (31) में स्वर शब्द वाङ्नामों में पढ़ा है। निघण्टु 3/14 (41) में स्वरति पद अर्चति (पूजा = स्तुति) अर्थवाले आख्यातों में पढ़ा है। स्तुति, शब्द द्वारा ही की जाती है।

स्वर शब्द अकारादि वर्ण विशेष के लिये प्रयुक्त होता है, जिनका उच्चारण स्वतन्त्र रूप से होता है।[2] जैसे –

'विवृतकरणा स्वराः।[3]

अकाराद्याः स्वरा ज्ञेया औकारान्ताश्चतुर्दश।[4]

एते स्वराः।[5]

तत्र स्वराः प्रथमम्।[6]

षोडशादितः स्वराः।[7]

अ इति आ इति ..." स्वरः।[8]

तत्र चतुर्दशादौ स्वराः।[9]

पाणिनीय मुनि इन अकारादि स्वरों का उच्चारण अष्टाध्यायी में 'अच्' प्रत्याहार से और फिट- सूत्रकार 'अष्' प्रत्याहार से करते हैं।

षड्जादि सप्तक- संगीत शास्त्र और उनसे संबद्ध प्रकरणों में षड्ज, ऋषम, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद नामक ध्वनि - विशेषों के लिए स्वर शब्द का प्रयोग होता है। यथा–

---

1. ऋ. 8.72.7
2. स्वयं राजन्ते इति स्वराः। (महाभाष्य 1.2.29)
3. आपिशल (3.7) तथा पाणिनीय शिक्षा (3.8)
4. नाट्य-शास्त्र 14.8
5. ऋक्प्रातिशाख्य 1.3
6. वाजसनेय प्रातिशाख्य 8.2
7. तैतिरीय प्रातिशाख्य 1.5
8. ऋक्तन्त्र 1.2
9. कातन्त्र 1.1.2

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।

पञ्चमो धैवतश्चैव निषाद सप्तम स्वरः।।[1]

स्वरा षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः।[2]

यम- ऋक्प्रातिशाख्य 13/44 की उव्वट की व्याख्या में इन षड्जादि स्वरों का यम नाम से उल्लेख किया है।

क्रुष्टादि सप्तक- पूर्वनिर्दिष्ट षड्जादि सप्तक ही सामगान में क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य नाम से स्मरण किए गए हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य 23/12 में क्रुष्टादि सप्तक का यम शब्द से भी निर्देश किया है।

सप्त (सात) संख्या- षड्जादि अथवा क्रुष्टादि अथवा उदात्तादि सात स्वरों की प्रसिद्धि के कारण स्वर शब्द सात संख्या के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में स्वर शब्द का प्रयोग पिङ्गल के छन्दः शास्त्र में मिलता है। यथा–

स्वरा अर्ध चार्यार्धम्।[3]

अर्थात्- जहां प्रस्तार में सात गण होते हैं और आधा (= सादे सात गण), वह आर्या छन्द का आधा भाग होता है।

स्वरों का प्रभावः-

पद स्वरः-

"सुप्तिङन्तम्"[4] सुप् अन्तवाले, तथा तिङ् अन्तबाले शब्दों की [पदम्] पद संज्ञा होती है।। सुप् से "स्वौजस०[5] के सु से लेकर सुप् के पकार पर्यन्त 21 प्रत्ययों का ग्रहण है। तथा तिङ् से तिप्तझि०[6] के तिप् से लेकर महिङ् के ङकार पर्यन्त 18 प्रत्ययों का ग्रहण है। उदाहरण के लिये -

ब्राह्मणाः पठन्ति (ब्राह्मण पढ़ते हैं)।

यहां पद संज्ञा होने से जस् के सकार को "पदस्य"[7] के अधिकार में वर्तमान

---

1. नारदशिक्षा 1.2.4
2. पिङ्गलसूत्र 3.64
3. छन्दशास्त्रम् 4.1
4. अष्टाध्यायी 1.4.14
5. अष्टाध्यायी 4.1.2
6. अष्टाध्यायी 3.4.78
7. अष्टाध्यायी 8.1.16

"ससजुषो रुः"[1] से रुत्व, और "खरवसान०"[2] से विसर्जनीय होता है। 'पठन्ति' के तिङ् अन्त वाला होने से पद संज्ञा होकर "पदस्य"[3] और "पदात्"[4] (1।1।17) के अधिकार में वर्तमान "तिङतिङः"[5] से अतिङ् पद से उत्तर तिङ् पद पठन्ति को सर्वानुदात्त होता है। संस्कृत भाषा में जितने भी नाम और आख्यात (क्रियापद) है, वे सब धातु और प्रत्यय के योग से बने हुए है। प्रायः एक पद में एक वर्ण ही उदात्त होता है, शेष वर्ण अनुदात्त रहते हैं।[6] उदात्त और अनुदात्त में उदात्त ही प्रधान होता है। (अत एव एक पद में एक ही उदात्त होता है, अधिक नहीं, अनुदात्त तो अनेक होते हैं)। पद के प्रकृति अथवा प्रत्ययरूपी जिस भाग में उदात्त स्वर रहता है उसी भाग का अर्थ मुख्य होता है। अत एव निरुक्तकार यास्क ने लिखा है–

तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्।[7]

अर्थात्- उदात्त का अर्थ तीव्र होता है, और अनुदात्त का अल्प = गौण। इसी भाव को पाणिनि ने–

उच्चैरुदात्तः।

नीचैरनुदात्तः।

समाहारः स्वरितः।

सूत्रों से दर्शाया है। ये सूत्र कतिपय प्रातिशाख्यों में भी उपलब्ध होते हैं।

समास– स्वर :–

जिस समास पदों में जो पद उदात्त स्वर से युक्त होता है वह पद का अर्थ प्रधान होता है। वेंकट माधव इस विषय को स्पष्ट करते हैं–

तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्तते।

उदात्तस्तत्र भवति ....॥

यदि स्वर पूर्वपदे तदर्थः स्फुटो भवेत्।

सर्वेष्वेव समासेषु यत्र यत्र स्वरो भवेत्।

---

1. अष्टाध्यायी 8.2.66
2. अष्टाध्यायी 8.3.15
3. अष्टाध्यायी 8.1.16
4. अष्टाध्यायी 8.1.17
5. अष्टाध्यायी 8.1.28
6. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। (अष्टाध्यायी 6.1.158)
7. निरुक्त 4.25

काशं कुशं वावलम्ब्य स्वरं तं स्थापयेत्।।[1]

अर्थात् - उत्तरपद के अर्थ की जहाँ प्रधानता होती है , वहाँ उत्तरपद में उदात्त स्वर रहता है। यदि उदात्त स्वर पूर्वपद में हो तो उसका अर्थ विस्पष्ट - प्रधान होता है। सब समासों में जहाँ जहाँ उदात्त स्वर हो, उसके अर्थ की प्रधानता किसी न किसी प्रकार स्पष्ट करनी चाहिए। उदाहरण–

" राजपुरुषः "

राजपुरुषः में षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है।[2] यहां राजन् शब्द का अलग स्वर है और पुरुष शब्द का अलग स्वर है किन्तु जब ये दोनो शब्दों का समास हुवा तब इनका अपना अलग स्वर न होकर एक समस्त राजपुरुषः का "समासस्य"[3] सूत्र द्वारा अन्तोदात्त (पुरुष के 'ष' को उदात्त) हो गया।

वाक्य– स्वर :-

वाक्य स्वर के विषय को स्पष्ट करते हुए पं युधिष्ठिर मीमांसक जी कहते हैं–

जिन क्रियादि पदों का उदात्तत्व अथवा अनुदात्तत्व देखा जाता है, वहाँ उनके अर्थों की प्रधानता अथवा गौणता होती है। इस विषय का उपपादन करके वेङ्कट माधव स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं–

एवं पदे समासे च यत्रोदात्तो व्यवस्थितः।
वर्ण पदे वा तत्रापि काकुरस्तीति निश्चयः।।[4]

अर्थात् - वाक्य के अथवा समास के जिस पद में अथवा पद के जिस वर्ण में उदात्त स्वर हो, उसी में काकु (=विशेषार्थबोधक ध्वनि-विशेष) समझनी चाहिए, यह बात निश्चित है।

समासस्वर और वाक्यस्वर को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण देते हैं–

ब्राह्मणग्रामं गच्छ = हे ब्राह्मण गाँव को जा।

ब्राह्मणग्रामंगच्छ = ब्राह्मणों का जो गाँव है, उसको जा।

ब्राह्मणग्रामंगच्छ = ब्राह्मण जिस गाँव में रहते हैं, उसको जा।

---

1. स्वरानुक्रमणी 1.3.2 ,3 ,22
2. अष्टाध्यायी 2.2.8
3. अष्टाध्यायी 6.1.217
4. स्वरानुक्रमणी 1.1.20

पहले वाक्य में ब्राह्मण और ग्राम दोनों पदों में उदात्तत्व होने से ये दो स्वतन्त्र पद हैं। ब्राह्मण पद में यहाँ जो आद्युदातत्व दिखाई पड़ रहा है वह संबोधन के कारण है।[1] अतः इसका अर्थ होगा- हे ब्राह्मण गाँव को जा, द्वितीय और तृतीय वाक्य में ब्राह्मणग्राम समुदाय में एक उदात्त है। अत ये दोनों पद समस्त है। द्वितीय वाक्य में अन्तोदात्त स्वर होने से वहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास जाना जाता है। अतः अर्थ होगा - ब्राह्मणों का जो ग्राम है, उसको जा। तृतीय वाक्य में पूर्वपद ब्राहाण में उदात्तत्व है। इससे बहुव्रीहि समास की प्रतीति होती है। इसलिए इसका अर्थ होगा - ब्राह्मण जिस गाँव में रहते हैं, उसको जा।

वेद के मन्त्रों में स्वर से अर्थ की भिन्नता :

ऋग्वेद में एक मन्त्र है–

हनौ॑ वृ॒त्रं जया॑ अ॒पः॥[2]

इसमें जयाः पद आद्युदात्त है।

अथर्ववेद में दूसरा मन्त्र है–

ज॒यो मे॑ स॒व्य आहितः॥[3]

इसमें जयः अन्तोदात्त है।

इन दोनों मन्त्रों में प्रयुक्त 'जय' में स्वरभेद होने से निश्चय ही दोनों का एक अर्थ नहीं हो सकता।

अतः आद्युदात्त 'जयाः' पद दो प्रकार से उपपन्न हो सकता है। एक 'जयः करणम्'[4] सूत्र से करण अर्थ में, दूसरा लेट् लकार के मध्यम पुरुष के एक वचन में। करणवाची अकारान्त जय शब्द के बहुवचन का अर्थ इस मन्त्र में संबद्ध नहीं हो सकता, पारिशेष्य से इसे लेट् लकार का रूप मानना होगा। अतः अर्थ होगा- [हे इन्द्र तू] अपों (= जलों) को जीत। दूसरे मन्त्र में प्रयुक्त अन्तोदात्त जयः पद भावार्थक अच् - प्रत्ययान्त है। अतः इसका अर्थ होगा– "मेरे बाएँ हाथ में जीत रखी हुई है"। इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वरभेद से अर्थभेद समझना चाहिए।

---

1. ब्राह्मण पद अन्तोदात्त है। यहां आमन्त्रितस्य च (अष्टाध्यायी 6.1.198) से आद्युदात्त है।
2. ऋग्वेद 1.80.3
3. अथर्ववेद 7.52.8
4. अष्टाध्यायी 6.1.102

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने "यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्"[1] एक उद्धरण देकर सबका ध्यान आकृष्ट किया है कि सम्यक् ज्ञान रखते हुए शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार एक ही शब्द के यथोचित प्रयोग से वह स्वर्ग में और इस लोक में भी कामधेनु का काम देता है। और विपरीत उच्चारण से वही शब्द वाग् अस्त्र बनकर प्रयोक्ता का घातक भी हो सकता है। 'जैसे स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु शब्द ने त्वष्टा का नाश कर दिया'। इन्द्रशत्रु शब्द में अन्तिम अक्षर 'त्रु' को उदात्त उच्चारण कर तत्पुरुष समास (इन्द्रस्य शत्रुः = इन्द्र का शत्रु) करने की अपेक्षा त्वष्टा ने पूर्वपद की प्रकृति 'इन्द्र' शब्द के आदि 'इ' अक्षर पर उदात्त की ध्वनि पर अर्थ का अनर्थ कर दिया। तत्पुरुष समास में इन्द्र को मारने वाला इन्द्रशत्रु उत्पन्न करना त्वष्टा को अभिष्ट था, पूर्वपद के प्रकृति के स्वर से बहुव्रीहि समास में (इन्द्र शत्रुः शातयिता यस्य इन्द्र = इन्द्र ही जिसका शत्रु मारने वाला है) इस अर्थ से उल्टे इन्द्र ने त्वष्टा का संहार कर दिया। इसीलिए वेंकट माधव लिखते हैं-

अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वर।
यदा न तं स्वरं पश्येद् अन्यथार्थं तदानयेत्॥

अर्थात्- अर्थ के समान होने पर शब्द का स्वर सर्वत्र समान होता है। जब कहीं उस समान स्वर को न देखे, तब उस शब्द का अर्थ भी अन्य ही करे।

वेंकट माधव ने अपने ऋग्वेद भाष्य में, विशेषकर बृहद् भाष्य (जो माधव के नाम से अडियार- मद्रास से छपा है) में इस नियम का सर्वत्र पालन किया है। हम उसके कतिपय शब्दों की सूची देते हैं -

शब्द	**अर्थ**	**पृष्ठ**
जठरः	अग्निः	426, 735
जठरः	उदारवचनः	
यमः	येन गच्छति	501
यमः	वैवस्वतः	
सत्यम्	ऋतार्थे	527
सत्यम्	दारिद्रये	
ज्येष्ठः	प्रशस्यः	569
ज्येष्ठः	वयसा ज्येष्ठ	

1. महाभाष्य पस्पशाह्निक

सुकृतम्	निष्ठान्तम्	
सुकृतम्	क्विबन्तम्	583
सुकृतम्	भावे निष्ठान्तं बहुवीहि	

इस प्रकार स्वरभेद से होने वाले अर्थभेद के उदाहरण देकर स्वर का शब्दार्थ पर पडने वाले प्रभाव का स्पष्टीकरण होता है।[1]

✦✦✦

1. वैदिक स्वर मीमांसा पृ. 59

वैदिक संहिताओं में साम का स्वरूप

-डॉ. सन्दीप

ग्राम/पोस्ट-गोयला कलां,

झज्जर, हरियाणा-124507

संगीत की प्राचीनता के प्रमाण हमें विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेद में प्राप्त होते है। वैदिक सहित्य में संगीत के तीनों अंगों[1]-गीत, वाद्य तथा नृत्य का उल्लेख मिलता है। साम अथवा सामगान को अध्यात्म का संगीत मानना चाहिये। छान्दोग्योपनिषद् के 2-11-1 से 2-21-1 तक इन ग्यारह खण्डों में भिन्न-भिन्न सामों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्राकृतिक तत्त्वों से जोड़ा गया है। प्रत्येक साम की भक्तियों का भी उल्लेख किया गया है। जैसे 'बृहत्' साम का सम्बन्ध आदित्य से बताया गया है:- उदित होता हुआ सूर्य हिंकार है, उदित हुआ प्रस्ताव है, मध्याह्नकालीन उद्गीथ है, अपराह्न प्रतिहार है तथा सूर्य के अस्त होने में निधन की कल्पना की गयी है।[2] 'वैरूप' साम का सम्बन्ध पर्जन्य के साथ कहा गया है। इस साम की भक्तियों की कल्पना इस प्रकार की गयी है: जलों का ऊपर उठना हिंकार है, मेघों में परिणत होना प्रस्ताव है, वर्षा होना उद्गीथ है, बिजली चमकना प्रतिहार है तथा जल का रुक जाना निधन है।[3] इस प्रकरण में मानो प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में साम की सत्ता विद्यमान हो रही है। साम की महिमा के संबन्ध में अब वैदिक संहिताओं के उद्धरणों को प्रस्तुत करते हैं।

ऋग्वेदादि वैदिक संहिताओं में साम शब्द का उल्लेख भूरिश: हुआ है। ऋग्वेद 1.62.2. में ऋत्विजों ने शक्तिशाली इन्द्र के लिए सामगान करने के लिए कहा गया है।[4] वहाँ साम के विशेषण के रूप में 'आङ्गूष्यम्' पद का उल्लेख किया

---

1. गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते। शारंगदेव, संगीतरत्नाकर -1.4
2. उद्यन्हिंकारो उदित: प्रस्तावो मध्यदिन उद्गीथोऽपराह्न: प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनम्। एतत् बृहदादित्ये प्रोतम्। छान्दोग्य उपनिषद् 2-14-1
3. अभ्राणि संप्लवते स हिंकारो, मेघो जायते स प्रस्तावो, वर्षति स उद्गीथो, विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारउद्गृह्णाति तन्निधनम्। एतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम्। छान्दोग्य उपनिषद् 2-15-1
4. प्र वो मह: महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम। येना न: पूर्वे पितर: पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्।। ऋग्वेद 1.62.2

गया है जिसका अर्थ सायण ने अघोषयोग्य 'रथन्तर' आदि साम किया है।[1] ऋग्वेद 1.147.1 में ऋत के साम में देवताओं के आनन्दित होने का कथन किया गया है।[2] ऋग्वेद 1.107.2 में अङ्गिरस ऋषियों के सामों द्वारा स्तुत्य होकर देवताओं से रक्षा के लिये आने की प्रार्थना की गयी है।[3] ऋग्वेद 1.164.24 में ऋक् के द्वारा साम के निर्माण का उल्लेख किया गया है।[4] मन्त्र में अर्केण साम' पद की व्याख्या करते हुए सायण ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि तीन ऋचाओं को मिला कर एक साम गाया जाता है। यहाँ सायण ने यह भी प्रश्न उठाया है कि यदि तीन ऋचाओं पर ही साम विहित है तो मन्त्र में 'अर्कैः साम' ऐसा कथन करना चाहिए, 'अर्केण साम' नहीं। परन्तु वहीं पर सायण ने 'अर्केण साम' की पुष्टि में यह समाधान किया है कि वस्तुतः एक साम एक ही ऋक् पर आरुढ़ होता है, इसके बाद आगे वाली दो ऋचायें गान की एक इकाई की पूर्णता के लिये होती है।[5] इसी मन्त्र के अनुवाद की टिप्पणी में ग्रिफिथ ने इस बात का उल्लेख किया है कि तीन ऋचाओं से निर्मित सूक्त पर साम का गान होता है।[6] ऋग्वेद 2.26.16 में राक्षसों को नष्ट करने वाले बृहस्पति के साम का कथन किया गया है।[7] ऋग्वेद 2.23.17 प्रत्येक साम के मूल तत्त्व से त्वष्टा द्वारा बृहस्पति के उत्पन्न करने का उल्लेख करता है।[8] ऋग्वेद 2.43.2 उद्गाता द्वारा सामगान करने का उल्लेख करता है। वहां कपिंजल पक्षी की ध्वनि की तुलना उद्गाता द्वारा गाये जाने वाले साम से की गई है।[9] ऋग्वेद 4.5.3 में अग्नि से ऐसे साम का ज्ञान प्रदान करने के लिये कहा गया है जो जानने

---

1. ऋग्वेद 1.62.2 पर सायण।
2. उभे यत्तोके तनये दधाना ऋतस्य सामन्रणयन्त देवाः।। ऋग्वेद 1.147.1
3. उप नो देवा अवसा गमन्त्वङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः।। ऋग्वेद 1.107.2
4. गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
   वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः।। ऋग्वेद 1.164.24
5. अर्केण साम। उक्तलक्षणेन मन्त्रेण साम गायत्ररथंतरसंज्ञकं साम प्रति मिमीते। ननु 'एकं साम तृचे क्रियते'। इति तिसृषु एकं साम विहितम्। अतः अर्कैः साम इति वक्तव्यं कथमुच्यते 'अर्केण' इति न। वस्तुतः एकं साम एकस्यां ऋचि आरूढम्। पश्चादन्योऽन्यां तदुत्तरयोर्गायति। ऋग्वेद 1.164.24 पर सायण भाष्य।
6. With Gayatri he measures out the praise song, sama with praise & song-triplet with the Tristup. The triplet with two or four & foot & syllable-ग्रिफिथ, अनुवाद ऋग्वेद 1.164.24
7. आ देवानामोहते वि व्रयो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः।। ऋग्वेद 2.23.16
8. विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः।
   य ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि।। ऋग्वेद 2.23.17
9. उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्रइव सवनेषु शंससि। ऋग्वेद 2.43.2

योग्य तथा अत्यन्त पूजनीय हैं।[1] ऋग्वेद 5.44.14 में इस बात का उल्लेख किया गया है कि जो सदा जागरूक रहता है उसी के पास साम जाते हैं[2] और वहीं पर अगले मन्त्र में यह कहा गया है कि अग्नि ही हमेशा जागरूक रहने वाला है इसलिये साम उसी के पास पहुंचते हैं।[3] ऋग्वेद 8.29.10 में साम के महान् होने तथा उसके द्वारा सूर्य को प्रकाशित करने का उल्लेख किया गया है।[4] ऋग्वेद 8.81.5 में अपनी स्तुति में गाये जाने वाले साम को सुनने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है।[5] ऋग्वेद 8. 98.1 में उद्गाताओं को इन्द्र के लिये सामगान करने के लिये कहा गया है।[6] ऋग्वेद 9.96.22 में सोम को सामगानकुशल तथा सामगान करते हुए देवताओं की तरफ शीघ्र जाने के लिये कहा है।[7] ऋग्वेद 10.36.5 में सामों द्वारा गीयमान बृहस्पति के यजमान पर प्रसन्न होने का उल्लेख किया गया है।[8] ऋग्वेद 10.78.5 अङ्गिरसों के सदैव साम से युक्त होने का उल्लेख करता है।[9] ऋग्वेद 10.90.9 में सबके द्वारा आह्वान किये जाने योग्य यज्ञरूप परमेश्वर से ऋक् और यजुष् के साथ-साथ साम की उत्पत्ति का भी उल्लेख है।[10] ऋग्वेद 10.99.2 इन्द्र के साम के पास जाने का कथन करता है।[11]

यजुर्वेद 4.1. ऋक् और यजुष् के साथ साम के द्वारा यज्ञ के सम्पादन का उल्लेख करता है।[12] यजुर्वेद 4.9 में कृष्ण मृगचर्म को ऋक् और साम का शिल्प कहा गया है। मृगचर्म का जो शुक्ल भाग है वह ऋक् का शिल्प है तथा जो कृष्ण भाग है वह साम का शिल्प है।[13] यजुर्वेद 18.29 में यज्ञ के द्वारा साम के सिद्ध होने का उल्लेख किया गया है।[14] यजुर्वेद 18.67 यजमान के स्वयं साम के रूप में भावना

1. साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान्। ऋग्वेद 4.5.3
2. यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति। ऋग्वेद 5.44.14
3. अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति। ऋग्वेद 5.44.15
4. अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। ऋग्वेद 8.29.10
5. प्र स्तोषदुप गासिषच्छ्वत्साम गीयमानम्। ऋग्वेद 8.81.5
6. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। ऋग्वेद 8.98.1
7. साम कृण्वन्त्सामन्यो विपश्चित्क्रन्दन्नेत्यभि सख्युर्न जामिम्। ऋग्वेद 9.96.22
8. ऐन्द्रो बर्हिः सीदतु पिन्वतामिळा बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु। ऋग्वेद 10.36.5
9. आपो न निम्नैरुदभिर्जिगत्नवो विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः। ऋग्वेद 10.87.5
10. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। ऋग्वेद 10.90.9
11. स हि द्युता विद्युता वेति साम पृथुं योनिमसुरत्वा ससाद।। ऋग्वेद 10.99.2
12. ऋक्सामाभ्यां संतरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम। यजुर्वेद 4.1; काठक संहिता 2.4. 21; तैत्तिरीय संहिता 1.2.3
13. ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामा रथे ते मा पातमाऽस्य यज्ञस्योदृचः। यजुर्वेद 4.9; तैत्तिरीय संहिता 1.2.2.7; काठक संहिता 2.3.6
14. आयुर्यज्ञेन कल्पतां.....स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथंतर च। यजुर्वेद 18.29

करने का उल्लेख करता है।[1] यजुर्वेद 34.5 में मन में ही साम को प्रतिष्ठित बताया गया है।[2] यजुर्वेद 36.1 में साम में प्राण की भावना की गयी है।[3]

तैत्तिरीय संहिता में इस बात का उल्लेख किया गया है कि साम के द्वारा जो यज्ञ का सम्पादन किया जाता है इससे यज्ञ का आशीषरूप फल सम्पूर्ण राष्ट्र को प्राप्त होता है[4] और ऋक् के द्वारा जो यज्ञ किया जाता है उसका फल प्रजा को प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता 1.5.7.1 में यज्ञ में साम की महिमा का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। वहां कहा गया है कि जिस यज्ञ में साम न हो वह वस्तुतः यज्ञ ही नहीं है।[5]

अथर्ववेद 7.54.1 में यज्ञ में साम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि ऋक् और साम के द्वारा ही यज्ञ में सम्पूर्ण कर्म किये जाते हैं। ये ही ऋक् और साम यज्ञ में सुशोभित होते हैं और ये ही देवताओं में यज्ञ को नियंत्रित करते है।[6] अगले मन्त्र में वहीं पर ऋक् को हविरूप तथा साम को ओजरूप बताया गया है।[7] अथर्ववेद 9.6.2 में साम को अतिथिरूप ब्रह्म का लोम कहा गया है।[8] अथर्ववेद 10.5.30 मे विष्णु के कदम को साम के समान तेज वाला कहा गया है।[9] अथर्ववेद 10.7.14 में साम के स्कम्भ (ब्रह्म) में प्रतिष्ठित होने का उल्लेख है।[10] अथर्ववेद 10. 7.20 में साम को ब्रह्म का लोम बताया गया है।[11] अथर्ववेद 10.8.41 में देवताओं के

---

1. ऋचो नामास्मि यजूँषि नामास्मि सामानि नामास्मि। यजुर्वेद 18.67
2. यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
   यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।। यजुर्वेद 34.5
3. ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। यजुर्वेद 36.1
4. यद्वै यज्ञस्य साम्ना क्रियते राष्ट्रं यज्ञस्याऽशीर्गच्छति
   यदृचा विशं यज्ञस्याऽऽशीर्गच्छति।। तैत्तिरीय संहिता 1.6.10.1
5. अयज्ञो वा एष योऽसामा। तैत्तिरीय संहिता 1.5.7.1; 2.5.8.1
6. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
   ऐते सदति राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः। अथर्ववेद 7.54.1; सामवेद 369
7. ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम्। अथर्ववेद 7.54.2
8. सामानि यस्य लोमानि। अथर्ववेद 9.6.2
9. विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा ऋक्संशितः सामतेजाः। अथर्ववेद 10.5.30
10. यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्महीं।
    एकर्षिर्यस्मिन्नर्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। अथर्ववेद 10.7.14
11. सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
    स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। अथर्ववेद 10.7.20

द्वारा साम के द्वारा साम को प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है।[1] अथर्ववेद 10. 10.14 वशा गाय के ऋक् और साम से युक्त होकर समुद्र में कूदने का उल्लेख करता है।[2] अथर्ववेद 11.3.15 में साम के द्वारा ओदन लाये जाने का कथन किया गया है।[3] इसी सूक्त के अगले मन्त्र में 'बृहत्' तथा 'रथन्तर' सामों को क्रमशः 'आयवन' और 'दर्वि' कहा गया है।[4] अथर्ववेद 11.7.5.24 में ऋक् और यजुष् के साथ-साथ साम, साम की भक्तियाँ-उद्गीथ और हिंकार-तथा साम के स्वरों को उच्छिष्ट ब्रह्म में प्रतिष्ठित बताया गया है।[5] अथर्ववेद 12.1.38 पृथिवी पर ऋत्विजों द्वारा साम के गाने करने का उल्लेख करता है।[6] अथर्ववेद 14.1.11 में ऋक् और साम दोनों अभिधानी (रस्सी) के रूप में उल्लिखित हैं जो सूर्य और चन्द्रमा रूपी गायों को बाँधने वाली हैं।[7] अथर्ववेद 15.6.8-9 में ऋक् तथा यजुष् के साथ-साथ सामों के ब्रह्म के पास जाने का उल्लेख है और यहाँ यह कहा गया है कि जो इस तथ्य को जानता है वह साम के प्रिय धाम को प्राप्त होता है।[8]

इस प्रकार से साम की स्तुति में वेद ही नहीं अपितु सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय भरा पड़ा है। एक प्रकार से वेद के सार को साम कहा जा सकता है। साम ही जीवन की अभिव्यक्ति है जो ईश्वरीय रचना में चेतना की भांति निहित है। यह साम किसे प्राप्त होता है इस विषय में वेद स्पष्ट रूप से कहता है कि-

२ ३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
२ ३ २ ३ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मिसख्ये न्योकाः॥[9]

---

1. साम्न ये साम संविदुः। अथर्ववेद 10.8.41
2. वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती। - अथर्ववेद 10.10.14
3. ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा। अथर्ववेद 11.3.15
4. बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः। अथर्ववेद 11.3.16
5. ऋक्साम यजुरिच्छष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
   हिंकार उछिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि।। अथर्ववेद 11.7.5
   ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
   उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।। अथर्ववेद 11.7.24
6. ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्नो यजुर्विदः। अथर्ववेद 14.1.1
7. ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनौताम्। अथर्ववेद 14.1.11; ऋग्वेद 10.85.11
8. तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्। ऋचां च वै साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।। अथर्ववेद 15.6.8-9
9. सामवेद - ऋचा संख्या-1826

वैदिककालीन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

-डॉ. अनुज कुमार
सहायक आचार्य (तदर्थ)
राजनीति विज्ञान,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शोध-सार

राजनीतिशास्त्र और राजनीतिक प्रक्रिया के क्षेत्र में वैदिक संहिताओं एवं उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य के अध्ययन से उस युग के विकसित राजनीतिक और प्रशासनिक संगठनों के विकास का ज्ञान होता हैं। वैदिक साहित्य में राजशास्त्र और प्रशासनिक संस्थाओं के स्वरूप को अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। राजनीतिक-चिंतन के क्षेत्र में वैदिक-कालीन राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन को शोध का केन्द्रीय विषय बनाया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र में राजनीतिक चिंतन की दृष्टि से वैदिक-कालीन संस्थाओं का अध्ययन किया गया है। वैदिक संहिताओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि वैदिक काल में सभा, समिति तथा विदथ जैसी राजनीतिक संस्थाएं मौजूद थी जो एक प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतन्त्र चलाती थी। वैदिक युग में राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी। प्राचीन भारत में राजा निरंकुश नहीं था उस पर धर्म तथा राजनीतिक संस्थाओं का नियन्त्रण था। कालान्तर में वैदिक-कालीन राजनीतिक संस्थाओं के पतन के साथ ही राजा की शक्ति का विकास हुआ। शोध में ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया गया है। द्वितीयक ऑकड़ों की सहायता से प्राचीन भारतीय-चिंतन के राजनीतिक पक्षों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

मुख्य बिन्दु-ऋग्वैदिक राजपद, सभा, समिति, विदथ

प्रस्तावना-प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के सम्बन्ध में मैक्समूलर, ब्लमू फील्ड जैसे पाश्चात्य विद्वान आरोप लगाते हैं कि प्राचीन समय में राजनीति विज्ञान के विकास में भारतीयों का कोई योगदान नहीं रहा हैं। एक मात्र क्षेत्र जहां भारतीय मस्तिष्क कार्य करने, सृजन करने एवं उपासना के लिए स्वतन्त्र रहा, वह धर्म और

दर्शन का क्षेत्र था। डॉ. भण्डारकर व डॉ. बेनी प्रसाद जैसे भारतीय विद्वानों ने पश्चात्य विचारकों के इन विचारों का खण्डन किया, इन्होनें प्राचीन भारतीय राजनीति-चिंतन के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन कर राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में भारतीयों के योगदान को दर्शाया है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के अनेक स्रोत हैं। वैदिक संहिताओं में तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं जैसे सभा, समिति, विदथ, सेना, विश, जन, राजा, वरण आदि का उल्लेख मिलता है। त्रसदस्यु और परीक्षित के प्रकरणों से दैवी राजसत्तावाद का परिसर्मथन व्यक्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों से राजतन्त्र की सिद्धि होती है। उपनिषदों मे उदात्त ब्रह्मविद्याविशारद नरपतियों के उल्लेख कुछ दूर तक प्लेटो द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक शासक का आंशिक स्मरण कराते हैं। ब्रह्मविद्यानिरत अश्वपति कैकेय, याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने वाले अद्वैतवादावलम्बी जनक, आदि राजनीति को विशुद्ध दार्शनिक महत्त्व से पूर्ण करते है। छान्दोग्य उपनिषद् दान, दमन, संकल्प आदि का महत्त्व व्यक्त कर राजनीति को नैतिक तत्वों से युक्त करने का सन्देश देता है। उपनिषदों का अद्वैतवादी ब्रह्मवाद व्यवहारिक स्तर पर लोककल्याण बोधक व्यक्त किया जा सकता है।[1] पूर्वोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वैदिक कालीन साहित्य में राजनीतिक-चिंतन की दृष्टि से प्रर्याप्त ज्ञान उपलब्ध है। प्रस्तुत शोध पत्र में वैदिक-कालीन राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को वैदिक संहिताओं एवं वैदिक साहित्य में राजनीतिक-चिंतन की विवेचना के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया हैं। वैदिक संहिताओं को पारम्परिक दृष्टिकोण से पवित्र माना जाता है क्योंकि इन्हें ईश्वरीय देन के रूप में स्वीकार किया गया हैं।[2]

समस्या कथन-राजनीति-चिंतन के इतिहास के सदर्भ में भारतीय-चितंन की परम्परा पाश्चात्य राजनीति चिंतन के उदय से पुरानी है पश्चात्य राजनीतिक विचारकों ने भारत एवं विश्व के अन्य देशो के चिंतन स्वरूप को धर्म प्रधान, पारलौकिक नीति-प्रधान माना[3] तथा भारतीय राजनीति चिंतन को छिटपुट अध्ययन का विषय बना दिया गया। आधुनिक युग में पश्चिमी सभ्यता के अभ्युदय के कारण साधारणत: पाश्चात्य राजनीति-चिंतन को ही भूमण्डलीय बौद्धिक परंम्परा के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्ततु किया गया है। वस्तुत: भारतीय चिंतन में राजनीति की बहुत सारी समस्याओं पर इतने सुलझे विचार व्यक्त किये गए हैं जो भूमंडलीय बौद्धिक परंपरा

1. वर्मा, वी.पी. (2014); आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ.सं.-01
2. झा, डी.एन., (2009); प्राचीन भारत एक रूपरेखा, मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ.सं.-19
3. पुरोहित, बी.आर. (2002); राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.सं.-01

का महत्वूपर्ण अंग बनने की क्षमता रखते है।[1] प्रस्तुत शोधपत्र में प्रारिम्भक वैदिक-कालीन राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

शोध उद्देश्य-प्रस्तुत शोध निम्नलिखित उद्देश्यों को केन्द्र मानकर सम्पन्न किया गया है।

1. वैदिक संहिताओं में राजनीतिक-चिंतन के तत्वों का अन्वेषण करना।

2. राजनीति-चिंतन के विकास में भारतीयों के योगदान को रेखाकिंत करना।

शोध परिकल्पना- प्रस्तुत शोध निम्नलिखित परिकल्पनाओं के आधार पर सम्पन्न किया गया है।

1. वैदिक संहिताओं में राजनीतिक-चिंतन की दृष्टि से समृद्ध ज्ञान मौजूद है।

2. भारतीय राजनीति-चिंतन का भूमण्डलीय बैद्धिक परम्परा में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अध्ययन पद्धति- शोध उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सामाजिक अनुसंधान की ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग कर शोध परिकल्पनाओं का परीक्षण किया गया है। शोध के लिए द्वितीयक आँकड़ों का उपयोग किया गया है।

राजनीतिशास्त्र और राजनीतिक प्रक्रिया के क्षेत्र में वैदिक संहिताओं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा उनके उत्तरवर्ती साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। धर्मसूत्रों की कोटि में आने वाले सबसे प्रारम्भिक विधि ग्रन्थों के पूर्व प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों और संस्थाओं के अध्ययन का प्रमुख स्रोत वैदिक साहित्य है।[2] वैदिक संहिताओं में तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं जैसे सभा, समिति, विदथ, सेना, विशः, जन, राजा, वरण आदि का उल्लेख मिलता है और इन संस्थाओं के सन्दर्भ में कतिपय वैचारिक अवशेष की प्राप्ति होती है।[3] ऋग्वैदिक काल के राजनीतिक संगठन का विकास उसके भौतिक एवं सामाजिक जीवन के सन्दर्भ से अलग रखकर नहीं समझा जा सकता है। इस काल में सम्भव है कि परिवार सबसे

---

1. गाबा, ओम प्रकाश (2018); भारतीय राजनीतिक-विचारक, मयूर बुक्स, नई दिल्ली, पृ.सं. 1
2. शर्मा, रामशरण (2017); प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.-29
3. वर्मा, वी.पी. (2014); आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ.सं.-01

छोटी इकाई रहा हो, जिसे गृह और कुल कहते थे, जिसका प्रधान कुलप होता था। (10/179/2)[1] कुलप का वर्णन भी साधारण गृहस्थ के रूप में नहीं, बल्कि योद्धा के रूप में हुआ है। ऋग्वैदिक लोगों का सामाजिक संगठन व्यवस्थित तथा अनुशासित था। राजपद सामाजिक संगठन का आधार था। ऋग्वेद में जन और विश शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। जन शब्द इसमें 275 बार आया है और विश शब्द 170 बार इसके अलावा पाँच जनों के अर्थ में हमें पंचजना: शब्द का उल्लेख भी मिलता है।

कुछ विद्वानों की राय है कि विश ग्रामों में विभक्त होता था। लेकिन इस विभाजन का व्यापक चलन नहीं था, ग्राम का उल्लेख ऋग्वेद में केवल 13 स्थलों पर ही हुआ है। ग्राम शब्द का प्रयोग भी इस काल में ऐसे छोटे-छोटे लड़ाकू समूहों में हुआ जिसके सदस्यों को संग्राम के लिए एकजुट और सन्निबद्ध किया जाता है।[2] पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक युग में संयुक्त परिवार प्रणाली थी। इन परिवारों को कुल कहते थे। कुल का प्रमुख कुलप होता था। कुछ कुल, जो एक ही परम्परा के होते थे, ये मिलकर एक ही स्थान पर रहते थे। इस स्थान को ग्राम कहा जाने लगा। ग्राम का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। बाह्य शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए अनके ग्रामणी मिलकर एक संघ बना लेते थे। इसको विश कहा गया। विश का मुखिया विशपति कहलाया। अनेक विशों का समुदाय जन था। इसमें एक ही कबीले और जाति के लोग होते थे। जन के नाते को जनपति या राजा नाम दिया गया।[3]

राजा का निर्वाचन-प्राचीन भारत में राजतन्त्र और गणतन्त्र विद्यमान थे, परन्तु तत्कालीन राजनीति-चिंतन में राजतन्त्र की प्रधानता देखने को मिलती है। गणतन्त्र के अन्तर्गत जन-सभाएं या प्रमुख नागरिकों की परिषदे, सार्वजनिक वाद-विवाद के विस्तृत नियम और चुनाव के तरिके प्रचलित थे। ऋग्वेद की एक ऋचा के अन्तर्गत जन-सभा की भावनाओं को सुंदर ढंग से व्यक्त किया गया है। "तुम्हारे उद्देश्य एक हो, तुम्हारे मन एक हो, तुम्हारे विचार एक हो ताकि तुम पूरी तरह एकता के सूत्र में बंध जाओ" परन्तु गणतन्त्र की इतनी मुखर अभिव्यक्ति के बावजदू भी व्यवस्थित चिंतन उभर कर सामने नहीं आया।[4] बुनियादी तौर पर वैदिक काल में राजा जन का

1. ऋग्वेद 10/179/2
2. शर्मा, रामशरण (2017); प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.-333
3. कुमार, कृष्ण (1968); प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थायें, जी.सी. प्रिन्टर्स, नई दिल्ली, पृष्ठ-06
4. गाबा, ओम प्रकाश (2018); भारतीय राजनीतिक-विचारक, मयूर बुक्स, नई दिल्ली, पृ.सं.-05

शासक था और इसलिए उसे जन का रक्षक–गोप जनस्य या गोपति जनस्य कहा गया है। गोप या गोपति शब्द से यह ध्वनित होता है कि जो व्यक्ति पहले गाँओं के झुँडों का प्रधान था, वहीं धीरे–धीरे जन का प्रधान बन गया।[1] ऋग्वेद में प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। (विशों नो राजानम् वृणानः) (10/124/8)[2] प्रजा के द्वारा राजा के चुनाव के सबसे अधिक उल्लेख अथर्ववेद में देखने को मिलते हैं। कुलों, ग्रामों, विशों और जन के नेता बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिये किसी योग्य व्यक्ति को अपना कर निर्वाचित कर लेते थे। ऋग्वेद के वर्णनों के अनुसार राजा को जनों की रक्षा करने वाला (जनस्य गोप्ता) और शत्रुओं के नगरों को तोड़ने वाला (पुरां भेत्ता)[3] कहा गया है दूसरी ओर, कुछ उल्लेखों से प्रकट होता है कि राजपद कुछ विशेष परिवारों के लोगों को ही प्राप्त होता था।[4] त्रसदस्यु को राजपद अपने पितामह से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था, और उसका पिता शत्रुओं द्वारा किए गए आक्रमण में अपना सिंहासन खो बैठा था। सुदास के परिवार ने तीन पीढ़ियों तक राजपद का उपयोग किया। तीन पीढ़ियों से अधिक राजपद के उपयोग के वास्तविक उदाहरण मौजूद नहीं हैं। वैदिक युग में युद्धजन्न परिस्थितियों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। युद्धों में शत्रुओं से अपनी रक्षा और शत्रुओं को पराजित करने के लिए राजा का निर्वाचन किया जाता रहा है।

वैदिककालीन संस्थाएँ - विदथ, सभा और समिति

विदथ– वैदिक साहित्य में अभिव्यंजित शासन संस्थाओं में विदथ भारतीय आर्यो की सबसे पुरानी जनसभा रही है। ऋग्वेद में विदथ शब्द बाईस बार, सभा शब्द आठ बार और समिति शब्द का नौ बार उल्लेख किया गया है। वैदिक साहित्य जहाँ विदथ के उल्लेखों से भरा पड़ा है। 'सभा' और 'समिति' शब्द का उल्लेख कहीं–कहीं ही हुआ है। प्राचीन वैदिक साहित्य से स्पष्ट होता है कि विदथ संस्था का ऋग्वैदिक काल में अधिक महत्त्व था तथा सभा और समिति को उत्तर संहिता काल में प्रमुखता प्राप्त हुई।[5]

---

1. शर्मा, रामशरण (2017), प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.–334
2. ऋग्वेद 10/124/8
3. जायसवाल, के.पी., हिन्दू पालिटि, अध्याय XXIII
4. बंद्योपाध्याय, डेवलपमेट ऑफ हिन्दू पालिटी एण्ड पालिटिकल थिएरीज, पृ.सं.–85
5. शर्मा, रामशरण (2017); प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.–91

"विदथ शब्द से तात्पर्य और व्याख्या पर लगभग आधे दर्जन मत हैं। चूँकि यह शब्द मलू धातु 'विद्' से निकला माना जा सकता है और विद का अर्थ क्रमश: जानना, धारण करना, विचार करना है" इसलिए विदथ को ज्ञान, स्वत्व और सभा ये तीन अर्थ दने सम्भव हो सका है।[1] ओल्डेनबर्ग ने विदथ शब्द का मूलधातु विधा माना है और इसका मूल अर्थ वितरण, निबटाना और अध्यादेश (धर्मविधि) लगाया है तथा व्युत्पत्यर्थ 'यज्ञ' बताया है। रॉथ ने विदथ को धर्मेतर, धार्मिक तथा सैनिक ये तीनों तरह के प्रयोजन सिद्ध करने वाली सभा माना है। रॉथ का अनुकरण करते हुए जासयवाल ने विचार रखा है कि विदथ शायद मूल संस्था थी जिससें सभा समिति और सेना का अलग-अलग संस्थाओं के रूप में विकास हुआ। यद्यपि ऐसा कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं है जिससे विदथ के साथ 'सभा' और समिति का संस्थात्मक संबंध सिद्ध किया जा सके, फिर भी विभिन्न सन्दर्भों में इस शब्द के जो प्रचुर उल्लेख हुए हैं, उसकी जाँच करें तो पाएगे कि विदथ में प्राचीनतम जनसभा के प्रमुख चिह्न विद्यमान थे।[2]

सभा- ऋग्वेद में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार हुआ है। सभा में कौन लोग थे? विप्र के साथ 'सभेय'[3] विशेषण के प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि जब 'सभा' प्रशासनिक प्रयोजन के लिए बुलाई जाती थी तब यहाँ गिने चुने लोग, अर्थात् ब्राह्मणों और गुरुजनों की बैठक होती थी। ऐसा अनुमान है कि 'सभा' जन के वृद्ध लोगों की परिषद् रही होगी इसलिए यह सीमित संस्था थी।[4] एक परवर्ती ऋग्वेद उल्लेख में स्त्री का 'सभावती'[5] अर्थात् सभा में जाने योग्य कहा गया है, जिससे पता चलता है कि स्त्री सदस्य भी, संस्था में भाग लेती थी।

ऋचाओं से स्पष्ट होता है कि सभा में चारागाहों सम्बन्धित मामलों, धर्म सम्बन्धी क्रियाकलापों आदि विषयों पर विचार-विमर्श होता था। चूँकि पशु लोगों के जीवनयापन का एक प्रमुख साधन थे इसलिए सभा को गायों की श्रेष्ठता पर विस्तारपूर्वक विचार करने में आनंद आता था। लोग दुबली-पतली गायों को मोटी बनाने में चिंता व्यक्त करते थे। उक्त कार्यों के अलावा सभा राजनीतिक और प्रशासनिक कार्यों का भी सम्पादन करती थी। ऋग्वेद की एक परवर्ती ऋचा के

---

1. विद् जाने, विद् विचारणे, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्, शब्दकलपद्रुम, 286
2. शर्मा, रामशरण (2017); प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.-92
3. ऋग्वेद, 2.24.13
4. थापर, रोमिला (2018); भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.स.-31
5. ऋग्वेद 1.167.3

आधार पर सभा को ऐसी संस्था के रूप में दिखलाने की कोशिश की गई है जो अभियोग लगाकर लोगों का कलंक मिटाती थी।[1] पुरुषमेध में सभाचर के धर्मबलि के रूप में अर्पित किए जाने का उल्लेख है। धर्म का अर्थ है न्याय।

मैकडोनेल के अनुसार सभाचर को न्यायालय का सदस्य या शायद उन लोगों में से एक मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए जो मुकदमों में निर्णय देने के लिए बैठते थे। मैकडोनेल ने सभासद का संबंध उन परामर्शदाताओं से जोडा जो सभा के कानूनी मामले निबटाते थे। मैकडोनेल का यह भी कहना है कि न्यायिक कार्य पूरी सभा नहीं, बल्कि उसकी स्थायी समिति सम्पन्न करती है।[2] सभा के न्यायिक कार्यों के सम्बन्ध में जायसवाल भी साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं सभा को कष्ट और प्रचंड[3] कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि जो विधि का उल्लंघन करता था उसके लिए सभा कष्टदायक थी। विधिसाहित्य में सभा न्यायालय या न्यायिक सभा के रूप में वर्णित है, जिसकी अध्यक्षता मुख्य न्यायाधीश के रूप में राजा करता है, और जिसमें साक्षियों तथा अभियुक्तों पर सत्ता रखने वाले अधिकारियों के रूप में केवल पार्षद, न्यायधीश और पुलिस अधिकारी भाग लेते हैं। पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों स्रोतों से प्रमाण मिलता है कि राजा सभा में उपस्थित रहता था। संभवतः वह नियमित रूप से सभा की अध्यक्षता नहीं करता था, क्योंकि यजुः संहिताओं ने सभापति का पृथक् उल्लेख है।

छादोग्य उपनिषद्[4] में ऐसे दो उल्लेख मिलते हैं जिससे पता चलता है कि राजा की अपनी सभा होती थी। शतपथ ब्राह्मण[5] में सोम का वर्णन ऐसे राजाधिराज के रूप में किया गया है जो अपनी सभा लगाता है और जिस सभा में अधीनस्थ राजाओं की एक साथ उपस्थिति होती है- अथर्ववेद[6] की एक ऋचा के सार और भाव से यह बात स्पष्ट होती है राजा प्रजापति की दो पुत्रियाँ सभा और समिति से संरक्षण प्रदान करने की अभिलाषा रखता है और कहता है कि मैं जिस भी संस्था से मिलू वह मेरा आदर करें और मुझे सहायता दे। हे पितरों, सभा में मेरे शब्द न्याययुक्त हो। हे सभा, हम तेरा नाम जानते हैं, तेरा नाम परिसंवाद है। यहाँ सभा में

---

1. ऋग्वेद, X.71.10
2. शर्मा, रामशरण (2017); प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.स.-112
3. पारस्कर, गृह्यसूत्र, अनु एच्. ओल्डनवर्ग, से.बु.ई. (XXIX.362)
4. छान्दोग्य उपनिषद, 3.6; VIII.14.1
5. शतपथ ब्राह्मण, तस्य राजानः सभागाः, III; 3.14
6. अथर्ववेद, VI.12, 1-3 (ग्रिफिथ के अनुवाद के अनुसार)

उपस्थित सभी लोग मुझसे सहमत हो। वहाँ बैठे लोगों की श्री और विद्या मेरी हो। इन्द्र यहाँ एकत्र सभी लोगों में मुझे प्रमुखता प्रदान करें।

यदि राजा ऐसी प्रार्थना की कामना करता है तो स्पष्ट है कि वह सभा के समर्थन की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

समिति-जन-समुदाय की बड़ी आकार की संस्था थी। इसमें प्रजा के सभी वर्गों के सदस्य होते थे। समिति में सूत, रथकर ग्रामणी और कर्मकार भी अवश्य रहते थे। परवर्ती काल में राजा या राजकुल के लोग भी समिति में जाते थे। वे इस निकाय के अति विशिष्ट सदस्य थे। ऐसा अनुमान है कि समिति सामान्य जनों की एक सामान्य परिषद रही होगी।[1] इस संस्था द्वारा केवल राजनीतिक कार्यों के सन्दर्भ में ही नहीं बल्कि दार्शनिक प्रश्नों पर भी चर्चा की जाती थी। राज्य की नीतियों के निर्धारण में इस संस्था द्वारा किये गये निर्णय सर्वमान्य होते थे। अपनी सम्मति को प्रकट करने और दूसरे सदस्यों को अपने अनुकूल बनाने के लिए सदस्य भाषण देते थे और तर्क प्रस्तुत करते थे। तथापि प्रयत्न यही रहता था कि सभी निर्णय सर्वसम्मति से किये जायें। समिति का निर्णय राजा के लिए अनिवार्य रूप से स्वीकारणीय होता था। समिति का विरोध होने पर राजा को पदच्युत किया जा सकता था। राजा के लिए यह अनिवार्य था कि वह समिति के सदस्यों को अपने अनुकूल रखे। राष्ट्र के कल्याण के लिए राजा और समिति में समभाव का होना आवश्यक था। ऋग्वेद में मन्त्र- "समानो मन्त्रः समितिः समानी"[2]- से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

राजकीय अधिकारी-वैदिक साहित्य में राजकीय अधिकारियों और पदों के नामों का ही अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। पुरोहित सबसे प्रमुख राजकीय पद था। पुरोहित धार्मिक कार्यों का संचालन करता था इसके अलावा युद्ध क्षेत्रों में पुरोहित राजा के साथ रहता था ऋग्वेद के कई अवतरणों में राजा को ब्राह्मण या पुरोहित का विशेष ध्यान रखने और उसकी रक्षा करने की सलाह दी गई है, क्योंकि पुरोहित राजा का शिक्षक, पथ प्रदर्शक, मित्र और ऋषि सब कुछ था। राजा की विजय और कल्याण के लिए वह देवताओं की स्तुति करता था। ऋग्वेद में मुख्यतः विश्वामित्र और वशिष्ठ को प्रमुख पुरोहित के रूप में उल्लेखित किया गया है।[3]

दूसरा प्रमुख पदाधिकारी सेनानी था। वह सेना का संगठन करता था और युद्धों में सेना का संचालन करता था। यद्यपि ऋग्वेद में सेना शब्द का उल्लेख बीस बार

---

1. थापर, रोमिला (2018); भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.स.- 31
2. कुमार, कृष्ण (1968); प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थायें, जी.सी. प्रिन्टर्स, नई दिल्ली, पृ.सं.-22
3. तदैव पृ.सं.-22

हुआ है। लेकिन स्थायी सेना के अस्तित्व के प्रमाण नहीं मिलते हैं। वैदिक सभाएँ जिनमें जनजाति के सदस्य उपस्थित हुआ करते थे जिन कार्यों का सम्पादन करती थी उनमें सैनिक कार्यों का बड़ा महत्त्व था स्पष्ट है कि आर्य सामान्यतः हथियारबंद रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें लड़ाई के लिए एकत्र कर लिया जाता था। इस प्रकार राज्य के पास कोई स्थायी सैनिक अधिकारी नहीं होता था। पुरपति अर्थात् मिट्टी के बने किले, नायक पर शायद प्रतिरक्षा का कुछ दायित्व होता होगा। निजी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए कुछ पुलिस अधिकारी रखना आवश्यक था। दूसरों की जमीन पर दखल जमाने जैसे अपराध का कोई उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन चोरी सेंधमारी, बटमारी, जुए में बेईमानी और खासकर गोहरण के जिक्र मिलते हैं।[1]

तीसरा प्रमुख अधिकारी ग्रामणी था। राष्ट्र या जन अनेक ग्रामों द्वारा संगठित होते थे। प्रत्येक ग्राम में राजा एक प्रतिनिधि रखता था। वह राजा की प्रशासनिक और सैनिक कार्यों की देखभाल करने वाला अधिकारी था इसको ग्रामणी कहा गया है। एक राष्ट्र में अनेक ग्रामणी होते होंगे, किन्तु वैदिक साहित्य में राजा के अधिकारियों में एक ही ग्रामणी का उल्लेख है। सम्भवतः सभा की सदस्यता के लिए सब ग्रामणी मिलकर एक प्रतिनिधि चुनते हो और उसको ही ग्रामणी कहा गया है। पूर्व विवेचित अधिकारियों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कई अन्य पदों का भी उल्लेख मिलता है।

कर प्रणाली–ऋग्वेद में राजा को दी जाने वाली भेंट या देवताओं को अर्पित किये जाने वाले चढ़ावे के अर्थ में बलि शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है। प्रजाजनों से राजा को कर या बलि प्राप्त होती थी, अतः राजा को बलिकृत भी कहा गया है। वैदिक युग में राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि से प्राप्त उपज का एक अंश था। इसके अलावा पशु व्यवसाय की आय से भी राज्य को कर प्राप्त होता था। युद्ध में पराजित शत्रुओं को बलि या किसी न किसी प्रकार की भेंट देने के लिए विवश किया जाता था। ऋग्वेद में करो के संग्रह करने वाले किसी अधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि कर संग्रह राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में व्यवस्थित कर व्यवस्था का अभाव था। राजा को प्रजाजनों से कर का कितना प्रतिशत प्राप्त होना था, इस संबंध में किसी निश्चित व्यवस्था का अभाव था। उत्तर वैदिककाल में कर संग्रह का व्यवस्थित स्वरूप अस्तित्व में आता है।

---

1. शर्मा, रामशरण (2017); प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.- 338

निष्कर्ष- प्रारम्भिक वैदिक-कालीन संस्थाओं का राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत मे गण, विदथ, सभा, समिति और परिषद् जैसी राजनीतिक संस्थाएं मौजूद थी। इनमें विदथ भारतीय आर्यो की सर्वाधिक पुरानी संस्था प्रतीत होती है सभा तथा समिति में राजनीतिक कार्यो का अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं सभा वृद्धों और शक्तिशाली पुरूषो की परिषद् थी जबकि समिति जन समुदाय की बड़े आकार की बहुत शक्तिशाली संस्था थी। मैकडोनल और टीले ब्राण्ट का विचार है कि सभा और समिति में विभेद करना कठिन है किन्तु स्वामी दयानन्द और जायसवाल के विचारों में सभा और समिति भिन्न संस्थाएं थी। इन संस्थाओं के सदस्य बैठकों में भाषण करते थे। और सभी बातों का निर्णय सर्वसम्मति से करते थे इस प्रकार ये संस्थाएं प्रत्यक्ष लोकतन्त्र चलाती थी। वैदिक-कालीन व्यवस्था में कर प्रणाली, स्थायी सेना, स्थायी अधिकारी तन्त्र जैसे तत्वों का आंशिक विकास ही हुआ था। उत्तर-वैदिक काल में इन संस्थाओं का विकसित स्वरूप दिखायी देता है जिन्हें राज्य के आवश्यक अंग माना गया। वैदिक-कालीन परम्परा का आरंम्भ मोटे तौर पर दो सहस्त्राबदी ई.पू. हुआ था। प्राचीन भारत में राजतंत्रीय और गणतंत्रीय शासन प्रणालियाँ वैदिक काल में विकसित हो चुकी थी जबकि पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन उत्तर-वैदिक काल के बाद विकसित हुआ भारतीय मनीषियों ने प्राचीन यूनान के महान् राजनीति-दार्शनिकों सुकरात, प्लेटो और अरस्तू से भी पहले राज्यशास्त्र और शासन पर सुलझे हुए विचार प्रस्तुत कर दिए थे।

✦✦✦

यज्ञ में मन्त्रों से आहुति क्यों?

-शिवदेव आर्य

गुरुकुल पौन्धा, देहरादून (उत्तराखण्ड)

'यज्ञ' शब्द यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु धातु से नङ् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। जिस कर्म में परमेश्वर का पूजन, विद्वानों का सत्कार, संगतिकरण अर्थात् मेल और हवि आदि का दान किया जाता है, उसे यज्ञ कहते हैं। यज्ञ शब्द के कहने से नानाविध अर्थों का ग्रहण किया जाता है किन्तु यहाँ पर यज्ञ से अग्निहोत्र का तात्पर्य है। अग्नेः होत्रम् अग्निहोत्रम्, अग्नि और होत्र इन दोनों शब्दों के योग से अग्निहोत्र शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ होगा कि जिस कर्म में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक निर्धारित विधिविधान के अनुसार मन्त्रपाठ सहित अग्नि में जो ओषधयुक्त हव्य आहुत करने की क्रिया की जाये, उसे अग्निहोत्र कहते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में अग्निहोत्र के लाभ बताते हुए कहा है कि- **'सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।'**[1] आगे भी कहा है- **'देखो! जहां होम होता है वहां से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैलके वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।'**[2]

इसी प्रकरण में प्रश्न उठाते हुए महर्षि स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि **'जब ऐसा ही है तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और इतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा।'** इसके उत्तर में लिखते हैं कि- **'उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उस में भेदक शक्ति नहीं है और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है।'**[3]

---

1. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास
2. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास
3. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास

अग्निहोत्र की प्रक्रिया में मन्त्रोच्चारण की क्या आवश्यकता है? यदि अग्निहोत्र में बिना मन्त्रों से आहुति दे दी जाये तो क्या हानि? क्या मन्त्रों के स्थान पर अर्थों को पढ़कर आहुति दी जा सकती है? अंग्रेजी, ऊर्दू आदि के शब्दों को बोलकर क्या आहुति दी जा सकती है? इन समस्त जिज्ञासाओं का समाधान लोग अपने-अपने निज-आग्रह के आधार पर करते हैं किन्तु इन शंकाओं का समाधान हमारे वैदिक वाङ्मय में पहले से ही उपलब्ध है। अतः शास्त्रमर्यादाविहीन निज-आग्रह को छोड़ सत्यान्वेषी होना आवश्यक है।

यज्ञ के प्रबल पोषक महर्षि देव दयानन्द सरस्वती जी ने शास्त्रानुशीलन कर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषयविचार में कहा है कि- **वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियते तदा किं दूषणमस्तीति? अत्रोच्यते - नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति। कुतः? ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशय- सत्यविरहाच्च. ...। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः)**

अर्थात् यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करें तो क्या दोष है? अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है, उसका भी वचन सत्य ही होता है। और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इससे यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहाँ वेदों में से ही फैला है, और जो जो मिथ्या है सो सो वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है। क्योंकि ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने मन्त्रों से ही यज्ञों का विधान किया है, इसका प्रमाण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पुनः प्राप्त होता है- **अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थलीं च संगृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रातः सायंकालयोः प्रातरेव वोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात्। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पंचमहायज्ञविषयः)** इसमें स्पष्ट शब्दों में कहा है कि **मन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्य्यात्** अर्थात् मन्त्रों से नित्य होम को करें। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि यज्ञ वेद मन्त्रों से ही होना अनिवार्य है।

लब्धप्रतिष्ठित वैदिक विद्वान् आचार्य रामनाथ वेदालंकार जी ने सामवेद भाष्य में- **उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते॥** (सामवेद-1379) इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि ब्रह्मयज्ञ वा देवयज्ञ करते हुए मनुष्य

मन्त्रोच्चारणपूर्वक परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभावों का ध्यान किया करें और उससे शिक्षा-ग्रहण किया करे। आर्य संन्यासी स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य करते हुए कहते हैं कि-

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ (गीता-17/13)

अर्थात् जो शास्त्र-विधि से हीन हो, जिसमें लोक-कल्याणार्थ अन्न तक न दिया गया हो, जो मन्त्रोच्चारणरहित हो, जिसमें कार्यकर्त्ताओं को दक्षिणा न दी गई हो, जो श्रद्धारहित मन से किया गया हो, उस यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रहीन यज्ञ तामससंज्ञक है, पुनः तामस यज्ञ विश्वकल्याण के लिए क्यों कर हो सकता है? महर्षि दयानन्द सरस्वती जी यजुर्वेद भाष्य में कहते हैं-

उप॒प्रय॑न्तोऽअध्व॒रं मन्त्र॑ वोचेमा॒ग्नये।
आ॒रेऽअ॒स्मे च॑ शृण्व॒ते॥ (यजुर्वेद-3/11)

अर्थात् **मनुष्यों को वेदमन्त्रों के साथ ईश्वर की स्तुति वा यज्ञ के अनुष्ठान को करके** जो ईश्वर भीतर-बाहर सब जगह व्याप्त होकर सब व्यवहारों को सुनता वा जानता हुआ वर्त्तमान है, इस कारण उससे भय मानकर अधर्म करने की इच्छा भी न करनी चाहिये। जब मनुष्य परमात्मा को जानता है, तब समीपस्थ और जब नहीं जानता तब दूरस्थ है, ऐसा निश्चय जानना चाहिए।

वैदिक विद्वान् हरिशरण सिद्धान्तालंकार जी ने यजुर्वेद के भाष्य करते हुए-

यज्ञं॑ य॒ज्ञं गच्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ॒ स्वां योनिं॑ गच्छ॒ स्वाहा॑।
ए॒ष ते॑ य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्तवाक॒ः सर्व॑वीर॒स्तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॑॥

(यजुर्वेद- 08/22)

प्रस्तुत मन्त्र **एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः** का अर्थ करते हुए स्पष्ट संकेत किया है कि 'यह यज्ञ आपका ही है। इसके करने वाले आप ही हैं, हम लोग तो निमित्तमात्र हैं। यह यज्ञ ऋग्, यजुः आदि के सूक्तों से उच्चारण युक्त है।'

पद्मभूषण डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने यजुर्वेद के सुबोध भाष्य में-

स॒मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्वन्तः सं त्वा॑ विशन्त्वोष॑धीरु॒तापः॑।
य॒ज्ञस्य॑ त्वा यज्ञपते सू॒क्तोक्तौ॑ नमोवा॒के वि॑धेम॒ यत् स्वाहा॑।।

(यजुर्वेद- 08/25)

प्रस्तुत मन्त्र **यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा** का अर्थ - 'हे यज्ञ के पालक! जिसमें वेद के सूक्त कहे जायें, ऐसे उत्तम यज्ञ कार्य

में और वैदिक वचनों के उच्चारण में जो हवन योग्य पदार्थ हैं, वह तुझे हम अर्पण करें' किया है। शतपथब्राह्मण में **यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा** की व्याख्या- **'यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत्स्वाहेति तद्यदेव यज्ञस्य साधु तदेवास्मिन्नेतद्दधाति।'** (शतपथ ब्राह्मण - 4/4/5/20) की है।

मन्त्रों के बिना यज्ञ के स्वरूप की तथा उसकी पूर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि त्रयी विद्या रूप मन्त्र, यज्ञ से अभिन्न हैं- **सैषा त्रयी विद्या ऋक्यजूंषि नामानि।** (शतपथ ब्राह्मण- 1/1/4/3)

शतपथ ब्राह्मण में आगे कहा गया है -

'वागेवैर्चश्च सामानि च मन एव यजूंषि'।

(शतपथ ब्राह्मण- 1/1/4/3)

अर्थात् वाचा, मनसा, कर्मणा यज्ञानुष्ठान के लिए मन्त्रों का विनियोग आवश्यक है। छान्दोग्य ब्राह्मण ग्रन्थ में वेदमन्त्रों से यज्ञादि कर्म का प्रतिपादन किया गया है-

यो ह वा अविदितौर्षेयच्छन्दो दैवताविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वौध्यापयति वा स स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यते, प्रमीयते वा पापीयान् भवति यातयामान्यस्यच्छन्दांसि भवन्ति। (छान्दोग्य ब्राह्मण-3/7/5)

इसका भाव यह है कि जो याजक वैदिक छन्द को बिना जाने ही केवल देवता सम्बन्धी विनियोगपूर्वक ब्राह्मण ग्रन्थीय मन्त्र से यजन कराता है, अध्यापन करता है, वह मन्त्र प्रयोक्ता याजक या अध्यापक वृक्ष, लता आदि जड़ योनि को प्राप्त होता है अथवा दु:खालयौत्मक नरक को प्राप्त करता है। इस प्रकार यदि कोई करता है तो उसे छान्दोग्य ब्राह्मण में पापियों में अतिनिकृष्ट कहा है। इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए सर्वानुक्रम सूत्र में महर्षि कात्यायन जी कहते हैं कि -

'छन्दांसि गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति, जुहोति, यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथौन्तरा श्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।' (सर्वानुक्रम सूत्र)

अर्थात् जो व्यक्ति गायत्री आदि छन्दों के ज्ञान से रहित होकर वेदाध्ययन करता है, वेदमन्त्रों का अभ्यास करता है, यज्ञकर्म में वेदमन्त्रों को उच्चारित करता है, यागक्रिया करता व कराता है, तो वह व्यक्ति पाप का भागी होता है। अत: महर्षि कात्यायन के अनुसार सिद्ध है कि यज्ञ मन्त्र के सम्यक् उच्चारण व विधिविधान से होना चाहिए। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में यज्ञ में मन्त्रों के उच्चारण का उद्देश्य दर्शाते हुए कहा है कि इससे मन्त्रों की रक्षा भी होती हैं। इसी तथ्य को महर्षि पतंजलि ने व्याकरणमहाभाष्य के प्रथम पस्पशाह्निक

में उल्लेख किया है कि- **'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्'** अर्थात् वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करें। वेदाध्ययन के द्वितीय प्रयोजन में महर्षि पतंजलि ने व्याकरणमहाभाष्य में लिखा है कि- **'ऊहः खल्वपि-न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्र निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्।'** (व्याकरणमहाभाष्य, प्रथम पस्पशाह्निक) उक्त प्रयोजन में भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वेदमन्त्रों से यज्ञकर्म होना चाहिए। आगे एक प्रयोजन को महर्षि पतंजलि उद्धृत करते हुए कहते हैं कि-

विभक्तिं कुर्वन्ति-याज्ञिकाः पठन्ति-प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्। विभक्तिं कुर्वन्ति। (व्याकरणमहाभाष्य, प्रथम पस्पशाह्निक) यहाँ पर प्रयाजाः शब्द से वेदमन्त्र का ग्रहण किया गया है। अतः स्पष्ट है कि वेद मन्त्रों से यज्ञ होना आवश्यक है।

प्रयाजा शब्दात्मक ऋग्वेद में दो मन्त्र प्राप्त होते हैं -

प्र॒या॒जान्मे॑ अनुया॒जाँश्च॒ केव॒लानूर्जं॑स्वन्तं ह॒विषो॑ दत्त भा॒गम्।
घृ॒तं चा॒पां पुरु॑षं॒ चौष॑धीनाम॒ग्नेश्चं॑ दी॒र्घमायु॑रस्तु देवाः।।
तवं॑ प्रया॒जा अं॑नुया॒जाश्च॒ केवं॑ल॒ ऊर्जं॑स्वन्तो ह॒विषः॑ सन्तु भा॒गाः।
तवाग्ने॒ य॒ज्ञो यमं॑स्तु सर्व॒स्तुभ्यं नमन्तां प्र॒दिश॒श्चतं॑स्रः।।

(ऋग्वेद-10/51/8-9)

पाणिनीय व्याकरण के **ओमभ्यादाने (अष्टाध्यायी-8/2/87)** इस सूत्र में कहा है कि मन्त्रों के उच्चारण से पूर्व जो ओ३म् है, उसको प्लुत हो जाता है। **प्रणवष्टेः (अष्टाध्यायी-8/2/89)** इस सूत्र के अनुसार यज्ञकर्म में वेदमन्त्रों के टि भाग को 'ओ३म्' आदेश का विधान कर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है- **अपां रेतांसि जिन्वन्तोऽ३म्।** इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनीय काल में वेदमन्त्रों से यज्ञ करने का विधान था।

'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (निरुक्त, प्र.अ.) आचार्य यास्क के अनुसार पुरुष की विद्या अनित्य है और मन्त्र परमात्मा की वाणी होने से नित्यज्ञान है। अतः अग्निहोत्रादि कर्म नित्यज्ञान से युक्त युक्त वेदमंत्रों से करने चाहिए। उपरोक्त वैदिक प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्षशास्त्र मर्यादा का अनुशीलन कर शास्त्रपरम्परा को अक्षुण्ण बनाने का मार्ग प्रशस्त किया है, हमें इसी शास्त्रपरम्परा के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

✦✦✦

वैदिक वाङ्मय में योग विद्या के तत्वों का निरूपण

-डॉ. अनुजा रावत

सहाचार्य एवं विभागाध्यक्ष, योग विभाग,

गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, पौड़ी गढ़वाल (उत्तराखण्ड)

मानव जीवन को सभ्य, सुसंस्कृत, समर्थ बनाने का वैज्ञानिक विधान भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग वेदों और विभिन्न अन्य योग ग्रन्थों में वर्णित है। वेद शाश्वत-यथार्थ ज्ञान राशि के समुच्चय हैं। वैदिक ऋषियों ने अपने मन या बुद्धि से कोई कल्पना न करके शाश्वत सत्य को अपनी चेतना के उच्चतम स्तर पर अनुभूति कर जिन वैदिक मंत्रों का साक्षात्कार किया है, इन्हीं मंत्रों का बहुमूल्य कोश ही वेद हैं। इसे श्रुति भी कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है- दिव्य वाणी से सुना गया सत्य। वेदों की ऋचाओं में निहित ज्ञान अनन्त है तथा उनकी शिक्षाओं में मानव-मात्र ही नहीं, वरन् समस्त सृष्टि के जीवधारियों-घटकों के कल्याण एवं सुख की भावना निहित है। वेदों की संख्या 4 है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। वेदों में लगभग 20,000 मंत्र हैं। वेद के उपग्रंथ ब्राह्मण और आरण्यकों में ज्ञान की सभी अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। वेद ज्ञान का भण्डार हैं किंतु यह कोई सामान्य बौद्धिक ज्ञान नहीं है, यह ऐसा ज्ञान है, जिसका ऋषियों ने तपस्या के माध्यम से साक्षात्कार किया है। ऋषियों ने इस ज्ञान का साक्षात्कार कर इसे शब्दों में मंत्र रूप में प्रकाशित किया है। वेद भौतिक व आध्यात्मिक सभी प्रकार के ज्ञान के भण्डार हैं किंतु मुख्यतः ये अलौकिक ज्ञान के ही बोधक हैं। वेदों को अपौरुषेय तथा भारतीय दर्शन का आदि स्रोत माना गया है। भारतीय धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता का भव्य प्रासाद वेदरूपी ज्ञान की दृढ़ आधार शिला पर प्रतिष्ठित है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने वेदों में प्रतिपादित यौगिक तत्वों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

कूटशब्द-अपौरुषेय, अनुभूति, साक्षात्कार, ऋचा।

वेदों में योग तत्व का वर्णन :

भारतीय परम्परा 'वेद' के सर्व ज्ञानमय होने की घोषणा करती है-मनुस्मृति भूत, वर्तमान और भविष्यत् सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का आधार वेद को मानती है। ऋषियों ने यह ज्ञान समाधि द्वारा परमात्म तत्व से आत्म साक्षात्कार करके पाया था, ज्ञान प्राप्ति की इस प्रक्रिया में यौगिक क्रियाओं का महत्वपूर्ण योगदान है। वेदों में

ज्ञान प्राप्ति के स्त्रोत में मन की स्थिरता, एकाग्रता और इन्द्रियों के स्वस्थ होने का उल्लेख मिलता है। इससे प्राप्त संवेदनाएँ मन में यथार्थ रूप धारण करती हैं अन्ततः यही संवेदनाएँ ही यथार्थ ज्ञान में परिवर्तित हो जाती हैं। वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ज्ञान में ही है। जिसकी पुष्टि ऋग्वेद के इस मंत्र से होती है–

ऋ॒चो अ॒क्षरे॑ पर॒मे व्यो॑म॒न्यस्मि॑न्दे॒वा अधि॒ विश्वे॑ निषे॒दुः।
यस्तन्न वेद॒ किमृ॒चा क॑रिष्यति॒ य इत्तद्वि॒दुस्त इ॒मे समा॑सते॥[1]

अर्थात् जिस ऋग्वेदादि वेदमात्र से प्रतिपादित नाशरहित उत्तम आकाश के बीच व्यापक परमेश्वर में समस्त पृथिवी सूर्य लोकादि देव आधेयरूप से स्थित होते हैं। जो उस परब्रह्म परमेश्वर को नहीं जानता वह चार वेद से क्या कर सकता है, और जो उस परब्रह्म को जानते हैं वे ही ब्रह्म में अच्छे प्रकार स्थिर होते हैं।वेदों में बताया गया है कि यह ब्रह्मज्ञान ही भारतवर्ष का प्राण है, जिसे हम योग के रूप में जानते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि योग विद्या का प्रादुर्भाव उतना ही प्राचीन है जितना कि वेद का है।

वेदों में हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति ब्रह्म को कहा गया है, जिन्होंने सर्वप्रथम योग का उपदेश दिया।

हि॒रण्य॒गर्भः॑ सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमो कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥[2]

अर्थात् सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए जो सम्पूर्ण विश्व के एक मात्र पति है। जिन्होंने स्वर्ग पृथ्वी को धारण किया उन प्रजापति देव का हव्य द्वारा पूजन करते हैं।

वेदों में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। गीता में समत्व[3] और कर्मो की कुशलता[4] को योग कहा है। पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[5] योग के द्वारा चित्त को एकाग्र करने के पश्चात मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने वैदिक मंत्रों का साक्षात्कार कर उनका वर्णन वेदों के रूप में किया। पतंजलि के अष्टांग योग की भांति सामवेद में भी वर्णन है कि सात मंजिलों को पार करने के उपरान्त परमात्मा प्रकट हो जाता

1. ऋग्वेद (1/164/39), अथर्ववेद (9/15/18)
2. ऋग्वेद (10/121/1)
3. योगस्थः कुरु कर्माणि संगंत्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।। गीता (2/48)
4. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। गीता (2/50)
5. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, योगदर्शन (1/2)

है[1], जिस प्रकार अष्टांग योग का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।[2] पतंजलि प्रोक्त यम-नियम भी वेद मंत्रों के ही अनुसार हैं।[3] वैदिक ऋषि व्यवहारिक रूप से जीवन निर्माण के लिये मार्मिक सूत्र प्रकट करते हुये स्पष्ट करते हैं कि- "मेरी जिह्वा के अग्र भाग में मधुर हो, जिह्वा का मूल मधुर हो, मेरा आचरण और व्यवहार मधुर हो। मैं वाणी से मीठा बोलूँ और मधुर बन जाऊँ।[4] इसी प्रकार ऋषिगण आन्तरिक एवं व्यवहारिक शुचिता की महत्ता का वर्णन करते हुये स्पष्ट करते हैं कि, "जो तुम बाहर से हो, वही अन्दर से बन जाओ, जो अन्दर से हो, वही बहिरंग में प्रकट हो।[5] वेदों में योग से सम्बन्धित तत्वों का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है इन सन्दर्भों का वर्णन हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं-

वेदों में योग को सभी धर्मों अर्थात् यज्ञादि के पूर्व करने का साधन माना गया है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद में वर्णन मिलता है -

यस्मा॑दृ॒ते न सिध्य॑ति य॒ज्ञो वि॑प॒श्चित॑श्च॒न।
स धी॒नां योग॑मिन्वति॥[6]

अर्थात् जिनकी कृपा के बिना ज्ञानी का भी यज्ञ पूर्ण नहीं होता, वे सदसस्पतिदेव हमारी बुद्धि को उत्तम प्रेरणाओं से युक्त करते हैं। यहाँ बुद्धि को उत्तम प्रेरणाओं से युक्त करने की प्रक्रिया ही योग है।

इसी प्रकार योग के सन्दर्भ में अथर्ववेद में वर्णन मिलता है -

अ॒ष्टावि॑ंशानि शि॒वानि श॒ग्मानि॒ स॒ह॒ योगं॑ भजन्तु मे।
योग॒ं प्रपद्ये॒ क्षेमं॑ च॒ क्षेम॒ं प्रपद्ये॒ योगं॑ च॒ नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु।[7]

---

1. जायसवाल डा. अरुण कुमार, वैदिक संस्कृति के विविध आयाम, ललित प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 119
2. योगांगानुष्ठानाशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। योगदर्शन (2/28)
3. जायसवाल डा. अरुण कुमार, वैदिक संस्कृति के विविध आयाम, ललितप्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 119
4. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलंकम्।
   ममेदहक्रतावसो मम चित्तमुपार्यसि॥ (1/34/2)
   मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
   वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥ अथर्ववेद (1/34/3)
5. यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्॥ अथर्ववेद (2/30/4)
6. ऋग्वेद (1/18/7)
7. अथर्ववेद (19/8/2)

अर्थात् कृत्तिकादि कल्याणप्रद जो 28 नक्षत्र हैं, वे हमें अभीष्ट प्रदान करें। नक्षत्रों का सहयोग हमारे लिए लाभप्रद हो। हम प्राप्त वस्तु के संरक्षण में समर्थ हों। हम अहोरात्र के प्रति वन्दना करते रहें, हमें योग-क्षेम प्राप्त हो।

इसी प्रकार ऋग्वेद व सामवेद में वर्णन मिलता है-

योगेंयोगे त॒वस्त॑रं॒ वाजेंवाजे हवामहे। सखा॑य॒ इन्द्र॑मू॒तये॑॥[1]

अर्थात् सत्कर्मों के शुभारम्भ में एवं हर प्रकार के संग्राम में बलशाली इन्द्रदेव का हम अपने संरक्षण के लिये मित्रवत् आवाहन करते हैं।

स घा॑ नो॒ योग॒ आ भु॑व॒त्स रा॒ये स पु॑र॑ंध्याम्।
गम॒द्वाजे॑भि॒रा स न॑ः॥[2]

अर्थात् वे इन्द्रदेव हमारे पुरुषार्थ को प्रखर बनाने मे सहायक हों, धन्य-धान से हमें परिपूर्ण करें तथा ज्ञान प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुये पोषक अन्न सहित हमारे निकट आये। उपरोक्त सभी सन्दर्भ साधक का साध्य से, अणु का विराट् से, वैयक्तिक चेतना परा चेतना से आत्मा का परमात्मा से संयोगित होने का आवाहन करते हैं अतः सभी सन्दर्भ एवं तथ्य किसी न किसी रूप में योग से सम्बन्धित हैं।

वेदों में वर्णित यौगिक शरीर विज्ञान :

वेदों में वर्णित यौगिक शरीर विज्ञान का सन्दर्भों का वर्णन हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं, अथर्ववेद में आठ चक्र तथा शरीर के नौ द्वारों का वर्णन मिलता है-

अ॒ष्टाचक्रा॒ नवद्वारा दे॒वानां॒ पूरयोध्या।
तस्यां॑ हि॒र॒ण्यय॒ः कोश॒ः स्व॒र्गो ज्योति॒षावृतः॥[3]

जिसमें आठ चक्रमूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञाचक्र, बिंदुचक्र और सहस्रार) और नौ द्वार हैं, (दो आंख, दो कान, नासिका के दो छिद्र, मुंह, मलद्वार और मूत्रद्वार) देवशक्तियों की पुरी (नगरी) यह अयोध्या है, उसमें जो तेजस्वी कोश है, वही तेजस्विता से युक्त होकर स्वर्गीय आनन्द से परिपूर्ण है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥[4]

---

1. ऋग्वेद (1/30/7), सामवेद (2/5/9)
2. ऋग्वेद (1/5/3) सामवेद (1/2/311)
3. अथर्ववेद (10/2/31)
4. अथर्ववेद (10/2/32)

तीन अरों से युक्त तीन केन्द्रों में स्थित, तेजस्वी कोश में जो आत्मवान यक्ष (पूजनीय आत्मा) का स्थान है, उसे निश्चित ही ब्रह्मज्ञानी जानते हैं।

वेदों में योगांगों का वर्णन :

वेदों में योग के अन्य ग्रन्थों की भांति योग के अंगों का प्रत्यक्ष वर्णन तो नहीं मिलता परन्तु परोक्ष रूप से योग के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन वेदों की ऋचाओं मे देखा जा सकता है। वेदों के अंतर्गत यम नियम के समान जीवन को मानसिक तथा व्यवहारिक रूप से परिष्कृत करने वाले विभिन्न योगांगों का वर्णन अलग-अलग स्थानों पर मिलता है उनमें से कुछ का वर्णन इस प्रकार है-

अपरिग्रह की महत्ता को स्पष्ट करते हुये यजुर्वेद में वर्णन है-

तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म्।[1]

संतोष बुद्धि उत्पन्न करने के लिए त्याग पूर्वक भोग करो, किसी के धन की लालसा मत करो।

माहं म॒घोनो॑ वरुण प्रि॒यस्य॑ भू॒रिदा॑व॒ आ वि॑दं॒ शून॑मा॒पेः।
मा रा॒यो रा॑जन्सु॒यमा॒दव॑ स्थां बृ॒हद्व॑देम वि॒दथे॑ सु॒वीरा॑ः॥[2]

हे वरुणदेव! सबको सन्तुष्ट करने वाले, ऐश्वर्यशाली दानदाता की सुख-समृद्धि से हम कभी ईर्ष्या न करें, उन्हें बन्धुवत् मानें! हे वरुणदेव! आवश्यक धन प्राप्त होने पर हम अहंकारी न बनें, श्रेष्ठ सन्तति सहित यज्ञ में देवों की स्तुतियाँ करें। इसी प्रकार वाणी की शुचिता और पवित्रता एवं इसके परिणाम के सन्दर्भ में ऋग्वेद में इस प्रकार वर्णन मिलता है-

मा वो॒ घ्नन्तं॑ मा शप॑न्तं॒ प्रति॑ वोचे देव॒यन्त॑म्।
सु॒म्नैरिद्व॒ आ वि॑वासे॥[3]

हे देवो! देवत्व प्राप्ति की कामना वाले साधकों को कोई कटुवचनों से और क्रोधयुक्त वचनों से प्रताड़ित न करने पाये। हम स्तुति वचनों द्वारा आपको प्रसन्न करते हैं।

च॒तुर॑श्चि॒द्ददमा॑नाद्बिभी॒यादा निधा॑तोः। न दु॒रुक्ताय॑ स्पृहयेत्॥[4]

जैसे जुआ खेलने में चार पैसे गिरने तक (हार-जीत का) भय रहता है, उसी प्रकार बुरे वचन कहने से भी डरना चाहिये। उससे स्नेह नहीं करना चाहिए।

---

1. यजुर्वेद (40/1)
2. ऋग्वेद (2/28/11)
3. ऋग्वेद (1/41/8)
4. ऋग्वेद (1/41/9)

सत्कर्मों के सन्दर्भ में ऋग्वेद में इस प्रकार वर्णित है कि –

स घा॒ राजा॒ सत्प॑तिः शूशुव॒ज्जनो॑ रा॒तह॑व्यः॒ प्रति॒ यः शास॑मिन्व॒ति।
उ॒क्था वा॒ यो अ॑भिगृ॒णाति॒ राध॑सा॒ दानु॑रस्मा॒ उप॑रा पिन्वते दि॒वः॥[1]

जो राजा सत्कर्मों का पोषक और समृद्धशाली है, उसके शासन में रहने वाले मनुष्य उत्तम हवि को देने वाले होते हैं। वे हविष्यान्न के साथ उत्तम वचनों द्वारा स्तुतियाँ करते हैं। उसी राज्य के लिये दानशील इन्द्रदेव द्युलोक से मेघों द्वारा वृष्टि करते हैं। ऋग्वेद में सत्यमार्ग की महत्ता का वर्णन इस प्रकार है–

ऋ॒तेन॒ यावृ॑ता॒वृधा॑वृ॒तस्य॒ ज्योति॑ष॒स्पती॑। ता मि॒त्रावरु॑णा हुवे॥[2]

सत्यमार्ग पर चलने वालों का उत्साह बढ़ाने वाले, तेजस्वी मित्रावरुणौं का हम आवाहन करते हैं।

ऋ॒तधी॑तय॒ आ ग॑त॒ सत्य॑धर्माणो अध्व॒रम्।
अ॒ग्नेः पि॑बत जि॒ह्वया॑॥[3]

अर्थात् हे सत्य स्तुति देवो! हे सत्य धारण करने वाले देवो! आप सब हमारे यज्ञ में आयें। अग्नि की जिह्वा रूप ज्वालाओं द्वारा सोमरस का अथवा घृतादि का पान करें। जीवन की पवित्रता और शुचिता के सन्दर्भ में सामवेद में वर्णन इस प्रकार है–

अपामीवामपस्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥[4]

हे आदित्यो! (आप हमें) रोगों, शत्रुओं, पापों एवं दुष्ट बुद्धि के दुष्प्रभावों से दूर रखें।

स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः।
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति॥[5]

साधक की प्रभावशाली स्तुतियों के माध्यम से जो मनुष्य इन्द्रदेव का मित्र बनता है। वह व्यक्ति दिव्य संरक्षण में रहने के कारण पाप तथा शत्रुओं से सुरक्षित

---

1. ऋग्वेद (1/54/7)
2. ऋग्वेद (1/23/5)
3. ऋग्वेद (5/51/2)
4. सामवेद (4/29/7)
5. सामवेद (4/26/6)

रहता है। ऋग्वेद में मोक्ष को सबसे अधिक आनन्द का हेतु कहा गया है। ऋग्वेद में मोक्ष की कामना की महत्ता का वर्णन है कि,

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥[1]

"हे प्रभो! जिस मोक्ष में निरन्तर ज्योति का प्रकाश होता तथा जिस ज्ञान में सुख ही सुख होता है, उस अमृत अवस्था में जो वृद्धि तथा क्षय से रहित है, हे सबको पवित्र करनेवाले परमात्मन्! मुझे रखें। हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! उक्त ज्ञानयोगी के लिये आप पूर्णाभिषेक का कारण बनें।।"

इसी प्रकार ऋग्वेद में यह वर्णन है कि,

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥[2]

जिन्होने यज्ञों और दान के द्वारा मुक्ति को प्राप्त किया है, वे इन्द्र की मित्रता को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हुये हैं। उनका कल्याण हो गया है। उनके प्राण बुद्धियों को बढ़ाने वाले होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय चिन्तन के इतिहास में ज्ञान का प्रारम्भिक प्रकटीकरण वैदिक जिज्ञासा के रूप में हुआ। वैदिक ऋषि सृष्टि के अनन्त विचार, अपरिमित वैभव को देखकर आश्चर्य प्रकट करता है कि 'इस विश्व की रचना कैसे हुई, किसने की?' सूर्य, अग्नि, वायु, आकाश, धरती, सृष्टि, जीवन आदि के प्रति इस तरह की वैदिक जिज्ञासा ही ऋषियों के दार्शनिक ज्ञान की उत्प्रेरक बनी है। जीवन और सृष्टि के स्वरूप और रहस्य को जानने की जिज्ञासु परिपक्वता ने ही उन विचारों को निःसृत किया है, जिसके माध्यम से भारतीय दर्शन जीव, जगत्, आत्मा और परमात्मा के मध्य सम्पर्क सूत्र की खोज करता हुआ ज्ञान के विराट् स्वरूप का प्रतिपादक बना है। ज्ञान की इस प्रणाली में योग की तकनीकों का महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि योग की उच्चतम अवस्था समाधि की अवस्था में ही मंत्र द्रष्टा ऋषियों ने चित्त को एकाग्र व स्थिर कर योग की उच्चतम अवस्था में वैदिक मंत्रों का प्रत्यक्ष कर उन्हें जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया।

✦✦✦

1. ऋग्वेद (9/113/7)
2. ऋग्वेद (10/62/1)

शतपथब्राह्मणे सम्वत्सरः : एकः समीक्षात्मको विमर्शः

-डॉ. प्रतापचन्द्रराय:

असिस्टेण्ट प्रोफेसरः, संस्कृतविभाग:

सिधो-कानहो-वीरसा-विश्वविद्यालय:

पुरुलिया, पश्चिमबंग:

वैदिकसंहितानामनन्तरं वेदभागत्वेन ब्राह्मणग्रन्था: समुद्भूता:।[1] तत्र वैदिकसंहितानां मन्त्राणां व्याख्यादय: सन्ति। विषयेऽस्मिन् भट्टभास्करपादैरुक्तं **"ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थ:"**।[2] महर्षिदयानन्दमहाभागैरप्युक्तं ब्राह्मणग्रन्था: वेदानां व्याख्यानग्रन्था: सन्ति। अतस्तैर्लिखितं **'ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि'**।[3] सत्यार्थप्रकाशेऽपि निगदितं वेदानां व्याख्यानग्रन्थत्वाद् एतेषां ग्रन्थानां नाम ब्रह्मणमिति विहितम्।[4] वाचस्पतिमिश्रानुसारं निर्वचनम्, विनियोग:, प्रयोजनमर्थवादो विधिश्च ब्राह्मणग्रन्थानां वर्ण्यविषया: सन्ति। तथा च-

नैरुक्तं यत्र मन्त्रस्य विनियोग: प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।।[5]

इत्थं ब्राह्मणग्रन्था: ते ग्रन्थविशेषा: सन्ति यत्र वेदानां व्याख्याविनियोगादयो विषया: वर्णिता: सन्ति। ब्राह्मणग्रन्थेषु शतपथब्राह्मणं खलु सर्वाधिकं लोकप्रियं प्रचलितञ्च समस्ति। विषयविवेचनदृष्ट्या स्थौल्यदृष्ट्या चास्य स्थानं सर्वोपरि। शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन-काण्वशाखयोर्ब्राह्मणमिदम्। वेबरस्य मतानुसारं शतपथब्राह्मणेऽस्मिन् 100 इति संख्यका: अध्याया:, 438 इति संख्यकानि ब्राह्मणानि 7624 इति संख्यका: कण्डिकाश्च विलसन्ति।[6] प्रायश: सर्वेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु सातिशयं सम्वत्सरस्य वर्णनं

---

1. शेषे ब्राह्मणशब्द:। जैमिनी.मीमासासूत्रम्- 2/1/33; अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम्- सायण. ऋ.भा.भू.- पृ. 37
2. भट्टभास्कर, तैत्ति.सं.- 1/5/1
3. दयानन्द, स्वामी। अनुभ्रमोच्छेदन। बनारस, संवत्- 1937, पृ.- 6
4. दयानन्द, स्वामी। सत्यार्थप्रकाश। रामलाल कपूर ट्रस्ट : बहालगढ़, हरियाणा, संवत् 2026, पृ. 299
5. वाचस्पति मिश्र
6. Weber, A. History of Indian Literature. London, 3rd ed. 1892, p. 117

समुपलभ्यते, परञ्च ब्राह्मणेषु शतपथब्राह्मणे सम्वत्सरस्य प्रतीकात्मकरूपेण बहुधा वैशद्येन च वर्णनं संलक्ष्यते, यत्तु शोधपत्रस्यास्य प्राधान्येन विवेच्यं वर्तते।

वस्तुतस्तु समाजे जनमानसे च सम्वत्सरो वर्षरूपेणैव प्रचलितोऽस्ति, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थेषु सम्वत्सरो न केवलं वर्षरूपेणैव, अपितु तत्र सम्वत्सरस्य बहुः व्यापकं बृहच्च स्वरूपं परिलक्ष्यते, यं स्वरूपं केवलं कतिपयो विद्वान् पुरुष एव जानाति। तत्र सम्वत्सरः समग्रस्य ब्रह्माण्डस्य प्राणिनाञ्च अधिपतिरूपेण वर्णितोऽस्ति, यः सर्वेषां भूतानां पालनं पोषणं च करोति। येन विना संसारेऽस्मिन् कस्यापि किमप्यस्तित्त्वं नास्ति। सर्वे तत्सत्तया सत्तावन्तो भवन्ति, तदसत्तया तु मृत्युरिति उच्यते। अस्य शक्त्या जगतितले जीवन्ति सर्वे जीवाः। संसारस्य प्रतिस्थानमनयैव शक्त्या व्यापितम्। तदनन्तरं सर्वासां प्रजानां पालनत्वात् पोषणत्वाच्च स एव प्रजापतिरि उच्यते। एवं सम्वत्सरस्य विविधरूपेण माहात्म्यं दृष्टिपथमायाति, यत्तु शोधपत्रेऽस्मिन् सविशदं विचारितम्।

सम्वत्सरशब्दः सम्वसन्ति ऋतवोऽत्र 'सम्+वस+सरन्' इत्यनेन निष्पन्नो भवतीति वाचस्पत्यमतम्, किन्तु यास्काचार्यानुसारं सम्वत्सरेऽस्मिन् सर्वाणि भूतानि वसन्ति। अतस्तैर्निरुक्ते लिखितं 'सम्वत्सरः सम्वसन्तेऽस्मिन्भूतानि'।[1] जैमिनीयब्राह्मणानुसारं 'सम्वत्' तथाच 'सरः' इति पदद्वयेन सम्वत्सरशब्दोऽयं समुत्पन्नः। तत्र सम्वच्छब्दस्यार्थः 'आदित्यः' सरस्य च चन्द्रमाः। अतस्तत्र 'आदित्य एव सम्वत् चन्द्रमा सरः। तमेव सरति तं पौर्णमास्यामाप्नोतीति' आम्नातम्।[2] 'तद् आहुः किं सम्वत् किं सरं....। स ब्रूयात् त्रस्य एव विद्या सम्वत्। अहोरात्रे एव सरः, इत्याधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् अन्नम् एव सम्वत्, वाक् एव सरः'।[3] सम्वत्सरस्य समानार्थकपदरूपेण वत्सर-अब्द-हायन-शरद्-संवत्-प्रभृतीनां पदानां प्रयोगो भाषायां संलक्ष्यते। वस्तुतस्तु सम्वत्सरो वर्षमित्युच्यते। यत्र सामान्यतया द्वादशमासानां समाहारो विद्यते। यथा निगद्यते- **'द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य'** इति।[4] किन्तु शतपथब्राह्मणस्य स्थानद्वये त्रयोदश मासाः अपि समुल्लिखिताः सन्ति।[5] अतो द्वादश-त्रयोदशमासानां कालविशेष एवैकः संवत्सरो भवति। मासैः समं सम्वत्सरे ग्रीष्म-वर्षा-शरत-हेमन्त्-शिशिर-वसन्तभेदेन षड्ऋतवो भवन्ति- 'षड् वा ऋतवः सम्वत्सरस्य'।[6] शतपथब्राह्मणस्य अपरस्मिन् स्थाने त्रयः ऋतव एव वर्णिताः सन्ति-

---

1. निरुक्तम्- 4/27
2. जै.ब्रा.- 2/60
3. तदेव- 2/29
4. श.ब्रा.- 2/2/2/4; 1/2/5/12
5. त्रयोदश वै मासाः सम्वत्सरस्य। श.ब्रा.- 3/6/4/24; त्रयोदश वा सम्वत्सरस्य मासाः। श. ब्रा.- 2/2/3/27; 5/4/5/23
6. श.ब्रा.- 2/2/2/3

'त्रयो वा ऋतवः सम्वत्सरस्य' इति।[1] तत्र यास्काचार्यपादैरपि निरुक्ते ग्रीष्म-वर्षा-हेमन्तभेदेन त्रयः ऋतवो वर्णिताः सन्ति। अवशिष्टाः त्रयस्तु तत्रैव अन्तर्भवन्ति। वसन्तो ग्रीष्मे शरद् वर्षर्तौ शिशिरो हेमन्ते। तापवृष्टिहिमादिभिः ग्रीष्मादिधर्मैः अल्पतरैः तेषां वसन्तादीनामपि योगादिति सायणाचार्यपादैर्भणितम्।[2] यथा द्वादश मासाः भवन्ति तथैव षष्टिः सम्वत्सराः अपि भवन्ति। तदनु यथा प्रत्येकं मासस्य नामानि भवन्ति तथैव प्रत्येकं वर्षस्य अपि प्रभव-विभव-शुक्लादीनि पृथक्-पृथग् नामानि भवन्ति।

सामान्यतया भारतीयसम्वत्सराः पञ्चविधा भवन्ति, किन्तु तत्र सावन-चान्द्र-सौरभेदेन मुख्याः त्रय एव सन्ति। तत्र 'सावनसम्वत्सरः' 360 इति दिवसात्मको भवति। सम्वत्सरेऽस्मिन्नेकस्मिन्मासे त्रिंशद्दिनानि भवन्ति। ततः 'चान्द्रसम्वत्सरः' 354 इति दिवसात्मको भवति। यदि मासानां संख्या अधिका भवति चेत्तत्र त्रयोदश मासाः भवन्ति। तत्र प्रथमो मासोऽमान्तो द्वितीयश्च मासः पूर्णिमान्त इत्युच्यते। दक्षिणभारतस्य द्राविड़परिवारेऽमान्तः पूर्णिमान्तश्च मासौ एव प्रचलितौ स्तः। तदनन्तरं 'सौरसम्वत्सरः' 365 इति दिवसात्मको भवति। सम्वत्सरोऽयं सूर्यस्य मेषसंक्रान्तितः आरभ्य मेषसंक्रान्ति-पर्यन्तमेव प्रचलतीति।

शतपथब्राह्मणे सम्वत्सरस्य बहुविधं माहात्म्यं परिलक्ष्यते। तत्र ब्राह्मणेऽस्मिन् सर्वादौ सम्वत्सरस्य सर्वेषां भूतानां पतिरूपेण वर्णनं समुपलभ्यते। ऋग्वेदानुसारं पतिः स भवति य उत्पत्स्यमानाद् अपराधाद् अस्मान् रक्षति।[3] 'तस्य पाता वा पालयिता वा' इति यास्काचार्यपादैर्विजल्पितम्।[4] तदनुसारं सर्वेषां भूतानां पाता वा पालयिता वा सम्वत्सर एवेति हेतोः सम्वत्सरस्य पतित्वम्। सम्वत्सरेण सम्वत्सरे वास्मिन् सर्वे जीवाः जीवन्ति। तस्मात्कारणाद् **'यः स भूतानां पतिः सम्वत्सरः सः'** इत्येवं ब्राह्मणेऽस्मिन् समुपलभ्यते।[5] तदनन्तरं तत्र सम्वत्सरः प्रजापतिरूपेणापि बहुत्र वर्णितः। निरुक्तानुसारं प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा भवति।[6] ततः 'सूर्य्यविद्युदग्न्याख्यानि त्रीणि ज्योतींषि सर्वेषु स्थापयति तथाच इच्छा प्राणः श्रद्धा पृथिव्यापोऽग्निर्वायुराकाशमिन्द्रियाणि मनोऽन्नं वीर्य्यन्तपो मन्त्रा लोको नाम चैताः षोडश कलाः विद्यन्ते यस्मिन् स प्रजापतिः' इति महर्षिदयानन्दपादैर्भणितम्।[7] पालयस्वेति तस्मात्प्रजापतिरभवत् तत्प्रजापतेः

---

1. तदेव- 14/1/1/28
2. सा.भा.श.ब्रा.- 14/1/1/28
3. पात्पतिर्जन्यादंहसो नः। ऋ.सं.- 4/55/5
4. निरुक्तम्- 10/14, 16
5. श.ब्रा.- 6/1/3/8
6. निरुक्तम्- 10/42
7. दया.भा.यजु:.सं.- 8/36

प्रजापतित्वमिति गोपथब्राह्मणमतम्,[1] किन्तु शतपथब्राह्मणेन वर्णितं यत् सम्वत्सरस्य प्रजापतिरूपप्रकृतित्वात् सम्वत्सरस्य प्रजापतित्वम्। प्रजापतिसम्वत्सरयोः तादात्म्यकारणात् तदुभयवाचकयोः सम्वत्सरप्रजापतिपदयोः चतुरक्षरत्वलक्षणं साम्यं विद्यते। अर्थाद् यथा सम्वत्सरशब्दः चतुरक्षरयुक्तः तथैव प्रजापतिशब्दोऽपि चतुरक्षरयुक्तो विद्यते। तस्मादेव तादात्म्यकारणात् प्रजापतिरेव सम्वत्सरो विद्यते।[2] अतो ब्राह्मणेऽस्मिन् अनेकत्र **'सम्वत्सरो वै प्रजापतिः'** इत्युद्घोषः सन्दृश्यते।[3] यो विद्वान् एवम्भूतस्य सम्वत्सरस्य सम्वत्सरत्वं विजानाति तं कश्चन अपि पापरूपया मिथ्याकरणशक्त्या कौटिल्येन च बाधितुं न शक्नोति इति ब्राह्मणमतम्।[4] तदनु ब्राह्मणेऽस्मिन् सम्वत्सरो यज्ञरूपेण वैशद्येन वर्णितः। यथा स्मर्यते- **'सम्वत्सरो वै यज्ञः'** इति।[5] 'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः' इति महर्षिदयानन्दभागैः सत्यार्थप्रकाशे निगदितम्।[6] अतो योऽयं यज्ञः स सम्वत्सरात्मको भवति। अर्थाद् यज्ञे सम्वत्सरात्मकत्वम् उपासनार्थम् आरोप्यमित्यर्थः। ततस्तत्र सम्वत्सरः पुरुषरूपेणापि कल्पितः। पुरुषः पुरिषादः। पुरि शयः। पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य।[7] यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स पुरुषः।[8] यथा पुरुषस्य विविधानि हस्तपदादीन्यंगानि भवन्ति तथैव सम्वत्सरस्यापि मासपक्षादीनि विभिन्नान्यंगानि सन्ति। एवम्विधेन सम्वत्सरपुरुषयोः अंगसाम्यात् सम्वत्सरस्य एवं पुरुषसंज्ञा। अतः **'पुरुषो वै सम्वत्सरः'** इति कथितः।[9] अर्थात् स्थावरजंगमात्मकस्य जगतः समष्टिरूपब्रह्माण्डात्मके शरीरे सम्वत्सरः शेते, तस्मात्तस्य पुरुष इति नामकरणम्। अस्य शतपथब्राह्मणस्य षष्टकाण्डे सम्वत्सरस्य बृहतीरूपेणापि वर्णनं दरीदृश्यते। बृहती परिबर्हणात्।[10] बृहती मर्य्या ययेमान् लोकान् व्यापामेति तद् बृहत्या बृहत्वमिति।[11]

1. गो.ब्रा.- 1/1/4
2. तस्मादाहुः प्रजापतिः सम्वत्सर इति। आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। यद्वेव चतुरक्षरः सम्वत्सरः। चतुरक्षरः प्रजापतिः। तेनो हैवास्यैष प्रतिमा।। श.ब्रा.- 11/1/6/13
3. श.ब्रा.- 2/3/3/18; 3/2/2/4; 5/1/2/9; 10/2/6/1; 1/6/3/35; 1/2/5/12; 2/2/2/4।
4. स यो हैवमेतत्सम्वत्सरस्य संवत्सरत्वं वेद। यो हैनं पाप्मा मायया त्सरति, न हैनं सोऽभिभवति।। श.ब्रा.- 11/1/6/12
5. श.ब्रा.- 11/1/1/1; 11/2/7/1; 3/1/4/5
6. दयानन्द, स्वामी। सत्यार्थप्रकाश। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, (प्र.स.) पृ.-26
7. निरुक्तम्- 2/3
8. दयानन्द, स्वामी। सत्यार्थप्रकाश। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, (प्र.स.)पृ.-30
9. श.ब्रा.- 12/2/4/1
10. निरुक्तम्- 7/12
11. ता.ब्रा.- 8/4/3

तत्राम्नातम्- **'बृहती हि सम्वत्सरः'** इति।[1] यतोहि यथा सम्वत्सरे खलु द्वादश पौर्णमास्यः द्वादशाष्टकाः द्वादशामावास्याः च भवन्ति इति सम्वत्सरे षट्त्रिंशत्संख्या सम्पद्यते, तथैव बृहत्या अपि षट्त्रिंशदक्षराः भवन्तीति षट्त्रिंशदक्षरत्वात् सम्वत्सरभूतस्य बृहत्या बृहतीत्वम्। ईदृशं तत्र बृहतीसंवत्सरयोः मध्ये षट्त्रिंशदक्षरसाम्याद् बृहती हि सम्वत्सरो विद्यत इति कथितः। ब्राह्मणस्यास्य बहुत्र बहुधा वैशद्येन सम्वत्सरोऽग्निरूपेण अपि वर्णितः। उक्तं च- **'सम्वत्सर एवाग्निः'** इति।[2] योऽञ्चति, अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति सोऽयमग्निः इति महर्षिपादैर्विजृम्भितम्।[3] स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निः। अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते।[4] तत्र अग्नेः सम्वत्सररूपत्वं सम्वत्सरभरणात्, शिक्यस्य स्वाश्रिताधारकत्वनियमात् सम्वत्सरस्य अग्निरूपत्वेन ऋतूनां सम्वत्सराधारत्वात् तेषां शिक्यत्वम्। तत्र शिक्यपदेन ऋतवो बुध्यन्ते।[5] कुतोहि ऋतुभिरेव सम्वत्सरः स्थातुं शक्यते। ऋतुभिरेवैनमेतद् बिभर्त्ति। तदनन्तरं दशमकाण्डे सम्वत्सरात्मकस्य अग्नेः वाक्प्राणादीनि अवयवानि वर्णितानि सन्ति। तदनुसारं सम्वत्सरस्य वसन्तः शिरः, ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः, वर्षा उत्तरपक्षः, शरदृतुर्मध्यमात्मा, हेमन्तशिशिरावृतू पुच्छं प्रतिष्ठा च, बाह्योऽग्निः तस्य वाक्त्वेन सम्पन्नः, वायुः प्राणत्वेन, आदित्यः चक्षुरात्मना, चन्द्रमा मनोरूपेण, दिशः श्रोत्रात्मना, आप एव मिथुनं प्रजननम्, तपः प्रतिष्ठात्मना, मासाः पर्वात्मना, अर्द्धमासा एव नाड्यात्मना, अहोरात्राणि रजतसुवर्णानि पत्राणीति वर्णितानि सन्ति। इत्थम् अग्न्यादीन् देवान् स सम्वत्सरोऽप्येति युनक्तीति हेतोः 'संवत्सरः' इत्येव अग्निरिति उपासनीयः। तत्पश्चाद् वैश्वानराग्निरपि सम्वत्सररूपेण उदीरितः। यद् विश्वं भूतम् अवारयत् तद् वैश्वानरयोः वैश्वानरत्वम्।[6] विश्वान्नरान्नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात्। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः।[7] तत्र सम्वत्सरधारणेन जायमानत्वाद् वैश्वानराग्नेः सम्वत्सरात्मकत्वम्। अत एव **'सम्वत्सरो वैश्वानरः'** इति ब्राह्मणेऽस्मिन् विजल्पितम्।[8] विषयेऽस्मिन्नन्यत्रोक्तं यद् द्वादशसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशो द्वादशकपालो भवति। द्वादश मासाः सम्भूय सम्वत्सरो भवति, वैश्वानरोऽग्निश्च सम्वत्सरात्मकः। ततस्तदर्थं हविः द्वादशकपालसंस्कृत-

---

1. श.ब्रा.- 6/4/2/10
2. श.ब्रा.- 6/7/1/18; 10/4/5/2; 6/3/1/25; 6/3/2/10; 6/3/1/14
3. दयानन्द, स्वामी। सत्यार्थप्रकाश। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, (प्र.स.) पृ.- 21
4. श.ब्रा.- 6/1/1/11
5. तदेव- 6/7/1/18
6. जै.ब्रा.- 3/8
7. निरुक्तम्- 7/21
8. श.ब्रा.- 7/3/1/35

पुरोडाशो भवतीति।[1] इत्थं वैश्वानराग्नेः सम्वत्सरात्मकत्वात् तस्य मासद्वादशकरूपत्वात् तदीयस्य हविषः कपालेषु द्वादशसंख्या युज्यते। ततस्तत्र सम्वत्सरः आदित्यरूपेण उदीरितः। तद् यद् एतेषां भूतानाम् आदत्त तद् आदित्यस्य आदित्यत्वमिति जैमिनीयब्राह्मणमतम्।[2] आदित्यः आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्र इति वेति यास्काचार्यपादैरादित्यस्य निर्वचनं प्रदत्तम्।[3] तद्वद् योऽयं सम्वत्सरः स एव आदित्यः, एकशतविधत्वात्। तस्य आदित्यस्य रश्मयः शतसंख्यात्मकाः सन्ति। तेनैव कारणेनादित्यः खलु एकशतसंख्यापूरकः सम्वत्सरवत्। एतस्मात् कारणात् सम्वत्सरस्य ईदृशम् आदित्यनामकरणम्।[4] अन्यत्रापि वर्णितं **'एष वै सम्वत्सरो यः एष तपति'** इति।[5] अर्थाद् य एष सूर्यो दिवि वर्तमानः तपति सर्वं जगत् भासयते स एव सम्वत्सरः। एष एव सम्वत्सरात्मकः कालः, तदधीनत्वादिति। 'कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः'।[6] तदनन्तरं ब्राह्मणमिदं सम्वत्सरस्य मृत्युरूपत्वं वर्णयति- **'एष वै मृत्युः यत् सम्वत्सरः'** इति।[7] तत्र मृत्युपदेन आयुषः क्षपयिता इति बुध्यते। तत्र मृत्युः परिवर्तमानाभ्यां मर्त्यानाम् अहोरात्राभ्याम् आयुः क्षिणोति, ततः आयुःक्षयानन्तरं ते म्रियन्ते। तस्मात् सम्वत्सर एव मृत्युरिति वर्णितः। एवम्विधस्य सम्वत्सररूपमृत्योः य उपास्ते तस्य आयुष्यं जरसः प्रागेष सम्वत्सरोऽहोरात्राभ्यां न हिनस्ति। तस्मात् स सर्वम् आयुरेति। तत्पश्चाद् ब्राह्मणेऽस्मिन् सम्वत्सरो वज्ररूपेणापि कथितः, वज्ररूपाग्न्यादित्रयावृत्तिरूपत्वात्। यथोच्यते- **'सम्वत्सरो वज्रः। एतेन वै देवाः सम्वत्सरेण वज्रेण पुरः प्राभिन्दन्, इमाँल्लोकान्प्राजयन्। तयोः एवैष एतेन सम्वत्सरेण वज्रेणेमाँल्लोकान् प्रभिनत्ति, इमाँल्लोकान्प्रजयति। तस्मादेता देवता यजति।**[8] तद् व्यतिरिच्य ब्राह्मणमिदं सम्वत्सरस्य यजमानात्मकत्वं वर्णयति। अतो ब्राह्मणेऽस्मिन् **'सम्वत्सरो यजमानः'** इत्येवं वचनं दरीदृश्यते।[9] तदनुसारं सम्वत्सरस्य वसन्तादयः ऋतवो याजकरूपेण तं सम्वत्सरं याजयन्ति। तत्र वसन्तः ऋतुः एव आग्नीध्रोऽस्ति। अग्नीन्धनसंयोगाद् हि ऋत्विज आग्नीध्र इति संज्ञा, यस्मात् तादृग्

---

1. तदेव- 9/3/1/1
2. जै.ब्रा.- 2/26
3. निरुक्तम्- 2/13
4. श.ब्रा.- 10/2/4/3
5. तदेव- 14/1/1/27, 28
6. दयानन्द, स्वामी। सत्यार्थप्रकाश। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, (प्र.स.) पृ.- 21
7. श.ब्रा.- 10/4/3/1
8. तदेव- 3/4/4/16
9. तदेव- 11/2/7/32

ऋत्विगात्मको वसन्तः। ग्रीष्मऋतुः अध्वर्युः वर्तते। वर्षा तु उद्गाता भवति। यदा खलु बलयुक्तमधिकं वर्षति तदा साम्न इवोपब्दीरूपः उद्घोषः क्रियते। तस्मात् सामकल्पस्य उद्गातुः वर्षर्तुरूपत्वम् इति। शरदृतुः ब्रह्मा भवति। तस्माद् यदा यस्यां शरदृतौ ब्रीह्यादि सस्यं पच्यते तदा अन्नवत्त्वेन हेतुना सर्वाः प्रजाः 'ब्रह्मण्वत्यः' इति कथयन्ति। तथैव होता अपि हेमन्तात्मको भवति। एवम्विधं सम्वत्सरात्मकं यजमानं वसन्तादयो देवताः याजयन्ति। ततस्तत्र सम्वत्सरो 'नाक' रूपेण स्वर्गरूपेण वा अभिहितः। यथा निगद्यते- **'सम्वत्सरो वाव नाकः। सम्वत्सरः स्वर्गो लोकः'** इति।[1] तत्र स्वर्गं प्राप्ताय कस्मैचन पुरुषाय अकं दुःखं न खलु भवति इत्यतो न विद्यते अकम् अत्र इति 'नाकः'। 'न वै तत्र जग्मुषे किञ्चनाकम्' इति।[2] 'न वै म इदम् अकम् अभूदिति। यदब्रवीन् न वै म इदम् अकम् अभूदिति तन् नाकस्य नाकत्वम्'।[3] सर्वभूतानां प्रतिष्ठास्पदत्वात् सम्वत्सरः प्रतिष्ठारूपेणापि कथितः। अत एव **'सम्वत्सरो वाव प्रतिष्ठा'** इत्युच्यते।[4] तत्पश्चात् सम्वत्सरः सर्वात्मकरूपेण उदीरितः। अतो ब्राह्मणेऽस्मिन् बहुत्र **'सर्वं वै सम्वत्सरः'** इत्येवं वाक्यं संलक्ष्यते।[5] तत्र सर्वोऽपि कालः सम्वत्सरात्मकत्वात् तस्य एवं नामकरणम्, यद्वा न्यूनाधिककालावयवानां सम्वत्सरेऽन्तर्भावात् सम्वत्सरस्य सर्वं संज्ञा, यद्वा सर्ववस्त्वात्मकत्वात् सम्वत्सरस्य सर्वं नाम भवतीति।

परिशेषे उपर्युक्तवर्णनेन निष्कर्षरूपेण वक्तव्यं यत् समग्रशोधपत्रेऽस्मिन् सम्वत्सरस्य विभिन्नार्थकत्वेन विचारो नूनं नूतनत्वमुद्घोषयति। सम्वत्सरविषयकं रहस्यात्मकं ज्ञानं ज्ञानान्तरात् प्रकृष्टमिति कथयितुं पार्य्यते। भौतिकदृष्ट्या सम्वत्सरो वर्षमिति बुध्यते। तस्य दिवस-पक्ष-मासादीनि विविधानि अवयवानि सन्ति। यथा द्युलोके सूर्यः स्वकीयेन महिम्ना रश्मिभिः सर्वेषां भूतानां स्थावरजंगमात्मकस्य जगतश्च नितरां निःस्वार्थरूपेण उपकरोति तथैव सम्वत्सरोऽपि स्वकीयेन महिम्ना दिवस-पक्ष-मासादिभिः अस्य चराचरभूतस्य विश्वब्रह्माण्डस्य सततं निःस्वार्थभावेन उपकरोति। अतः शतपथब्राह्मण-मुद्घोषयति- "एष वै सम्वत्सरो य एष तपति" इति।[6] अधियज्ञपक्षे सम्वत्सरो ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्तादिभिः ऋतुभिः निरन्तरं यज्ञं करोति। तत्र ग्रीष्मोऽध्वर्युरूपेण वर्षा उद्गातारूपेण शरद्ब्रह्मारूपेण हेमन्तो होतारूपेण वसन्तश्च आग्नीध्रत्वेन अहोरात्राभ्यां यज्ञं सम्पादयन्ति। अधिदैवतपक्षे सम्वत्सर एव प्रजापति-अग्नि-वरुणादिदेवत्वेन ब्राह्मणेऽस्मिन्

---

1. श.ब्रा.- 8/4/1/24
2. ता.ब्रा.- 21/8/4
3. जै.ब्रा.- 3/345
4. सम्वत्सरो वाव प्रतिष्ठा। श.ब्रा.- 8/4/1/22
5. श.ब्रा.- 1/6/1/19; 1/7/2/24; 4/2/2/7; 10/2/5/16; 11/1/2/12; 8/7/1/1
6. तदेव- 14/1/1/27

यथार्थरूपेण वर्णितः। स एव सम्वत्सरात्मको देवः स्वकीयेन बलेन सर्वान् नितरां रक्षति। तत्पश्चात् परिशेषे शतपथब्राह्मणस्य **'सम्वत्सर इदं सर्वम्'** इति (8/7/1/1) वचनेन ज्ञायते यत् स्थावरजंगमात्मकेऽस्मिन् संसारे यत्किमपि संदृश्यते तत्सर्वं सम्वत्सर एव। अर्थाज्जगदिदमीश्वरसदृशेन सम्वत्सरेण परिव्याप्तं सर्वत्रेश्वरोऽस्तीति व्यापकम् अन्तर्यामिनं निश्चित्य कदाचिदप्यन्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चिदपि द्रव्यं न ग्रहणीय-मित्यर्थः। सर्वत्र चराचरात्मके जगति स एव विराजते। एवं सम्वत्सरस्य माहात्म्यं सर्वत्रैव कीर्तितम्। अतः सर्वान्ते वक्तुं शक्यते यत् सम्वत्सर एव अतीव गुरुत्वावहमित्यत्र नास्ति कश्चिदपि संशय इति दिक्।

✦✦✦

वैदिकवाङ्मये वाक्यार्थतत्त्वविमर्शः

-राम किशोरः

शोधच्छात्रः, जवाहरलालनेहरूविश्वविद्यालयः, नवदेहली

शब्दशास्त्रे वाक्यस्य प्राधान्यमस्तीति। शाब्दिका वाक्यस्यैव शब्दस्यैव वा वाचकत्वमिच्छन्ति। वाक्यं शब्दपर्यायमस्ति। पाणिनिना "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, वाक्यादेरामन्त्रितस्य" इत्यादिषु शब्दतः तथा च "वचोऽशब्दसंज्ञायाम्" इत्यत्र अर्थतः वाक्यसंज्ञासत्ता स्वीकृतः। शब्दसंज्ञाऽभावे तु कुत्वाऽभावे सति वाच्यमित्येव रूपं भवति। तद्यथा सूत्रम्- वचोऽशब्दसंज्ञायाम् इति।

मन्यन्ते बुधैः शारीरिकज्ञानान्तरमात्मज्ञानमावश्यकं तथैव ध्वनिपदवाक्यादेः ज्ञानान्तरमर्थरूपमात्मज्ञानमावश्यकम्। पाणिनिना अर्थतत्त्वं भाषासारतत्त्वरूपेण स्वीकृतः, अतः सार्थकाः शब्दा हि प्रातिपदिकसंज्ञकाः।[1] यास्कोऽपि निगदति **अर्थनित्यः परीक्षेत**[2] अर्थात् अर्थज्ञानं विना निर्वचनमसंभवम् अथ च अर्थवैशिष्ट्यमेव प्रतिपादयन् कथयति यो वेदमधीत्यप्यर्थं न विजानाति सो भारहारः पशुरिव, स्थाणुरिव भवति परं योऽर्थज्ञ सैव सकलं भद्रमश्नुते, ज्ञानविधूतपाप्मा ब्रह्मत्वं प्राप्नोति[3] अन्यच्चार्थमेव वाचः पुष्पफलमाह। भगवता पतञ्जलिनाऽप्यमेव भावः व्यक्ती कृतः यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।[4] ऋग्वेदेऽप्यर्थमहत्त्वं निगदत्ययम्मन्त्रः

उ॒त त्वं॑ स॒ख्ये स्थि॒रपी॑तमाहुर्नै॑नं॑ हिन्व॒न्त्यपि॒ वाजि॑नेषु।
अधे॑न्वा चरति मा॒यये॒षा वाचं॑ शुश्रु॒वाँ अफलाम॑पुष्पाम्।।[5]

वाक्यादेव वाक्यार्थज्ञानोपयोगिनोः पदपदार्थयोः निर्णयः सञ्जायते। वस्तुतः शब्दशास्त्रे वाक्यमेव मुख्यम्। तच्च निरवयवम् अखण्डञ्चेति। तत्र प्रतिवाक्यं सङ्केतग्रहासम्भवाद् वाक्यान्वाख्यानस्य लघूपायेनाशक्यत्वाच्च तत्र पदादीनि कल्पितानि सन्ति। तत्र कश्च वाक्यार्थः? इति विषयेऽस्मिन् तथैव मतवैभिन्यं दृश्यते। समान्यरूपेण वाक्यतो यो ह्यर्थः

---

1. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् 1.2.45
2. निरुक्त 2.1
3. निरुक्त 1.18
4. महाभाष्यम् आ० 1
5. ऋग्वेद 10.71.5

बुद्ध्यते स वाक्यार्थः। मीमांसान्यायप्रभृतिषु दर्शनेष्वयं विषयः स्व-स्व-शास्त्रवासनया निरूपितः, परं वैयाकरणानां तत्र मौलिकः कश्चन मतभेदोऽभिलक्ष्यी भवति। श्रीमता भर्तृहरिणा वाक्यपदीये षड् वाक्यार्थाः[1] निरूपिताः। पुण्यराजस्य मतेन वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यम् प्रतिभैव वाक्यार्थ अध्यासश्च सम्बन्ध इति। भगवता पतञ्जलिनोक्तम्- **"पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद्विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः"**।[2] कैयटेन इत्थं प्रतिपादितं व्याख्यानं भाष्यवचनास्यास्य, ध्वनिव्यङ्ग्यं नित्यं वाक्यं विशिष्टस्यार्थस्य पदार्थसंसर्गरूपस्य वाचकम्। अन्यथा ह्यशाब्दो वाक्यार्थः स्यादिति। सामान्यस्य विशेषेऽवस्थानमित्यत्र पदार्थसंसर्गरूप एव वाक्यार्थो भवति, तदेवोच्यते वाक्यमेव मुख्यम्। शब्दो वाक्यार्थ एव मुख्यः शब्दार्थः इत्यादिना पदार्थातिरिक्तो वाक्यार्थोऽस्तीति गम्यते। यतोहि सर्वत्र वाक्यमेव बोधकं भवति। तत्तदुपादानं तु नियमाय कल्प्यते। भर्तृहरिणाप्युक्तम्- अशब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्। एवं च सति सम्बन्धः शब्दस्यार्थेन हीयते।[3]

मञ्जूषायां विशेषणविशेष्यभावरूपसंसर्गो वाक्यार्थोऽपि वाक्यशक्य एव निरूपितः। यथा वाक्ये पदानि एवं स्वमर्थ सूचयन्ति तथैव वाक्यार्थे पदार्थो आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्परं संसृष्टा भवन्ति, वस्तुतो वाक्यं वाक्यार्थो वा न हि पृथगस्तीति भावः केयटेनोक्तः। यतो हि वाक्ये पदार्थादन्यस्यार्थस्य न कदापि उपलब्धिर्भवति। पुनरपि भगवता पतञ्जलिनोक्तः "यत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः"। तथा हि राज्ञः पुरुष इत्यत्र उद्योतकारेणोक्तः पुरुषे यदाधिक्यं तद्वाक्यार्थः न तु राजनि।

उक्तञ्च भर्तृहरिणाष्टौ वाक्यविकल्पाः।[4] तत्र पक्षद्वयम् अखण्डः सखण्डश्च। त्रीणि लक्षणान्यखण्डपक्षे तथा हि जातिः संघातवर्तिनी, एकोनवयवः शब्दः, बुद्ध्यनुसंहृतिश्च। अवशिष्टानि खण्डपक्षे तद्यथा आख्यातशब्दः, क्रमः, सङ्घातः, पदमाद्यम्, पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्षम्। तत्र सङ्घातः, क्रमो वा वाक्यमिति पक्षेऽभिहितान्वयवाद आपतति, पदनामेव शक्तत्वात्, पदसङ्घातरूपे वाक्ये शक्त्यनभ्युपगमात्। उभेऽपि अर्थात् सङ्घाते क्रमे च संसर्गो वाक्यार्थः। तत्र सम्बन्धः संसर्गो वा वाक्यार्थः, निराकांक्षपदार्थो वाक्यार्थः, प्रयोजनञ्चेति वाक्यार्थः इत्यभिहितन्वयवादिनाम्मतमिति वक्तुं शक्नुमः।

सम्बन्धः संसर्गो वा वाक्यार्थः- भगवता पतञ्जलिना एकेनोदाहरणेन स्पष्टीकृतम् यत् पदार्थापेक्षया वाक्यार्थस्य वैशिष्ट्यं भवति। तथा हि "इहेदानीम्, देवदत्त! गामभ्याज

---

1. तदेवं प्रतिभा संसर्गः संसर्गवशान्निराकाङ्क्षो विशेषावस्थितः पदार्थ एव संसृष्ट एवार्थः क्रिया प्रयोजनं चेति षड् वाक्यार्था इहोपदर्शिताः। वा.प. 2.2 पुण्यराज
2. महाभाष्यम् 1.2.45
3. वाक्यपदीयम् 2.16
4. वाक्यपदीयम् 2.1,2

शुक्लाम्" इत्युक्ते सर्वं निर्दिष्टम् देवदत्त एव कर्त्ता, गौरेव कर्म, अभ्याजैव क्रिया नान्या, शुक्लामैव न कृष्णमिति। अत्र पदार्थातिरिक्तोऽप्यर्थो गम्यते सम्बन्धरूपाधिकस्य तत्र सत्त्वात्। नायं सम्बन्धस्तिष्ठति पृथक्-पृथक् पदेषु, परं वाक्ये तु सम्बन्धस्याधिक्यं जायते। स च वाक्यार्थ इति। उक्तञ्च पतञ्जलिना "यत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः"[1] इति। संसर्गपर्यायो हि सम्बन्धः स च वाक्यार्थ कथ्यते। वाक्यविकल्पेष्वष्टसु पदसंघातजं वाक्यमिति पक्षे संसर्गो वाक्यार्थत्वेन प्रसिद्ध इति। क्रमो वाक्यमिति पक्षेऽपि संसर्ग एव वाक्यार्थो भवति। अत्रापि भाष्योक्तं "यत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः" इति बीजरूपम्। देवदत्त गामभ्याज शुक्लामित्यत्र पदानां सामान्ये वर्तमानां यद्विशेषेऽवस्थानं स वाक्यार्थः अर्थात् संसर्गो वाक्यार्थ इति।

उक्तञ्च भर्तृहरिणा केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते।
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्॥
सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥[2]

अर्थात् पदानां परस्परान्वये सति पदार्थयोः यदाधिक्यं संसार्गात्मकं प्रतीयते स वाक्यार्थः। पदार्थलक्षणं व्याकरणे यस्यार्थस्य ज्ञानरूपो व्यापारः पदस्य संस्कारे निमित्तत्वेनाश्रीयते स पदार्थ परन्तु संसर्गस्य न ज्ञानरूपो व्यापारः, तस्मात्संसर्ग न पदार्थः स च वाक्यार्थ एवेति सुस्थितम्। वाक्यार्थस्य जातिवत् प्रत्येकपरिसमाप्तिरित्येकं मतमपरश्च संख्यावत् समुदायपरिसमाप्तिरिति। तदुक्तञ्च-

स त्वनेकपदस्थोऽपि प्रतिभेदं समाप्यते।
जातिवत्समुदायेऽपि सङ्ख्यावत्कल्प्यते परैः॥[3]

क्वचित् तृतीयः पक्षोऽपि श्रूयते स हि सामान्यविरोधी विशेषः पक्षः।

सर्वभेदानुगुण्यं तु सामान्यमपरे विदुः।
तदर्थान्तरसंसर्गाद् भजते भेदरूपताम्।
भेदानाकाङ्क्षतस्तस्य या परिप्लवमानता।
अविच्छिनत्ति सम्बन्धस्तां विशेषे निवेशयन्॥[4]

एवं संसर्गवादे हि द्वौ त्रयो वा पक्षाः स्वीकरणीयाः। अपि च सम्बन्धः संसर्गो हि कार्यानुमेयः।

---

1. महाभाष्यम् 1.2.45
2. वाक्यपदीयम् 2.41-42
3. वाक्यपदीयम् 2.43
4. वाक्यपदीयम् 2.44-45

तथा चोक्तम्

कार्यानुमेयः सम्बन्धो रूपं तस्य न दृश्यते।
असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्तं प्रतिजानते।।[1]

अर्थात् न हि तस्य सम्बन्धस्य स्वरूपमवधारयितुं शक्यम्। स योग्तावच्छेदक-कार्याप्रसवानुमेय एव नित्यम्। पदार्थस्य कस्यचिद्विशेषार्थे विश्रान्तिरेव सः। अथ च उक्तं विशेषसंसर्गविषयेऽपि हरिणा

यथाऽस्यावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित्।
अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते।।

अनर्थकान्युपायत्वात् पदार्थे नार्थवन्ति वा।
क्रमेणोच्चारितान्याहुर्वाक्यार्थं भिन्नलक्षणम्।।[2]

अथ च निराकाङ्क्षपदार्थो वाक्यार्थः इदमपि मतमेकम्। सङ्घातपक्षे यः संसर्गो वाक्यार्थ उक्तस्तस्यैवायमेकोऽपरः पक्षः प्रतिभाति। एतदुभयोरन्तरं यत्तस्मिन् पदानि साकाङ्क्षभूतानि भवन्ति। अस्मिन् च पदानि निराकाङ्क्षजातानीति किञ्चित्करो भेदः। तथा हि हरिराह **कार्यानुमेयः सम्बन्धो रूपं तस्य च दृश्यते। असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्तं प्रतिजानते।** विशेषविश्रान्तपदानामेवार्थो वाक्यार्थः। कार्येण पदार्थानां विशेषविश्रान्तिलक्षणेना-नुमीयत इति कार्यानुमेयः। इदं तदिति तु रूपं तस्य न दृश्यते। अत एवासत्त्वभूतं पदार्थव्यतिरेकेण सत्त्वं नास्ति, यस्य तमेवंभूतमाचार्याः प्रतिजानते। पुनरपि संसर्गपक्षे पदार्थो न वाक्यार्थः अस्मिन् तु पदार्थो हि वाक्यार्थः पदार्थश्चात्र विशेषविश्रान्तः, तस्य चासत्त्वभूतसम्बन्धोऽस्ति न तु संसर्गमूलक इति। न स प्रत्यक्षः, स तु अनुमेयोऽस्ति। न च स सम्बन्धाऽभिधेयमनतिक्रमति। उक्तञ्च

नियतं साधने साध्यं क्रिया नियतसाधना।
स सित्रधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते।।[3]

केचन मन्यन्ते प्रयोजनं वाक्यार्थः, यतोहि प्रयोजनमभिलक्ष्यैव प्राणिनः सर्वत्र प्रवर्तन्ते यथा वेदस्यादेशं, गुरोराज्ञां, राजाऽऽज्ञां तदानीमेव धारयन्ति यदा तत्र फलं पश्यन्तीति। यं कञ्चिदर्थमभिलक्ष्योद्दिश्य वा कर्मणि प्रवर्तते स एव प्रयोजनमिति तथा ह्युक्तं गौतमेन **"यमर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते तत्प्रयोजनमित"**[4] यतो हि न्यायनये फलं वाक्यार्थ इत्युच्यते न कश्चिदपि निष्फलं कर्म करोति। मीमांसकेष्वपि फलं वाक्यार्थः प्रसिद्धः पुनश्च फलापेक्षया पुरुषः केवलं कर्म करोति, फलं च पुरुषार्थत्वात्।

1. वाक्यपदीयम् 2.46
2. वाक्यपदीयम् 2.54-55
3. वाक्यपदीयम् 2.47
4. न्यायदर्शम् 1.124

पुरुषाश्च कर्माश्रयत्वादित्युक्तमस्ति। तत्र कः मुख्यः कश्च गौणभूत इति निश्चेतुं न शक्यते तस्मात् प्रयोजनमेव वाक्यार्थ इति। जैमिनिरप्याह **"कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वादिति"**। वैयाकरणापि प्रयोजनमेव वाक्यार्थः मन्यन्ते हरिराह **अभिधेयः पदस्यार्थः वाक्यस्यार्थः प्रयोजनम्। यस्य तस्य च सम्बन्धो वाक्यानामुपपद्यते।।**[1]

आख्यातवादिनाम्मते क्रिया वाक्यार्थो भवति। वाक्यकारीयलक्षणे यदाख्यातपदं ततु क्रियापदमेवास्ति। वाक्यस्य हृदयम् क्रियैव भवति। क्रियावाक्यार्थमाश्रित्याह हरिः

क्रिया क्रियान्तराद् भिन्ना नियताधारसाधना।
प्रक्रान्ता प्रतिपतृणां भेदा सम्बोधहेतवः।।[2]

फलवाक्यार्थे क्रियायाः प्रयोजनं फलमुच्यते तत्र क्रिया फलस्याङ्गीभूता भवति, एतस्मात्फलं वाक्यार्थ उच्यते। यथा-

प्रधान्यात्तु क्रिया पूर्वमर्थस्य प्रविभज्यते।
साध्यप्रयुक्तान्यङ्गानि फलं तस्याः प्रयोजनम्।।[3]

केचन कर्मवाक्यार्थवादिनः तेषाम्मते-

पचि क्रिया करोमीति कर्मत्वेनाभिधीयते।
पक्तिः करणरूपं तु साध्यत्वेन प्रतीयते।।[4]

यत्र क्रिया कर्मत्वेन व्यवतिष्ठते, तत्रायं वादः प्रवर्तते। क्रिया तु सर्वत्र मुख्यत्वेनैव प्रतिपादिता। क्रियामन्तरा कर्मणः फलस्य च सत्तैव नास्ति। तस्मात्क्रिया वाक्यार्थवाद एवोचितः प्रतिभा वाक्यार्थोऽपि क्रियाश्रित एवास्ति।

अत एवोक्तम्-

प्रतिभा यत्प्रभूतार्था यामनुष्ठानमाश्रितम्।
फलं प्रसूययेत यतः सा क्रिया वाक्यगोचरः।।[5]

क्रिया सदैव शक्तिविशेषेण (कारकेण) युक्तीभूय तुल्यरूपे अतुल्यरूपे च विशिष्टस्वरूपवती भवति। कारकं केवलं बोधे उपायभूतमस्तीतिमतमेकम्। जैमिनिना द्रव्य-गुण-संस्कारेषु क्रिया एव प्राधान्यम् स्वीकृतम्। तथा हि- **"द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः।**[6] एवच्च क्रियातिरिक्तं किमपि तत्त्वन्नास्ति। सर्वत्र क्रियायाः प्राधान्यम्। सैव च

1. वाक्यपदीयम् 2.47
2. वाक्यपदीयम् 2.414
3. वाक्यपदीयम् 2.427
4. वाक्यपदीयम् 2.429
5. वाक्यपदीयम् 1.1-2 अम्बाकर्त्री
6. मीमांसा 3.1.3

वाक्यार्थः परं केचन मन्यन्ते यत् क्रियाभावनयोः साम्यं विद्यते। अत एव हरिणा भावनाया पृथगुल्लेखो न कृतः इति पुण्यराजमतम्। केवलं प्रकृत्यर्थप्रत्यार्थतायामत्र वैयाकरणमीमांसकयोर्विवादः। अर्थाद् भावना प्रकृत्यर्थ (धात्वर्थः) इति वैयाकरणः। प्रत्ययार्थः आख्यातार्थ इति मीमांसका इत्येतावानेव विप्रतिपत्तिविषया विशेषः।

वाक्यार्थविषये बहुधा वादाः श्रूयन्ते। तत्र पुण्यराजमतेन वाक्यपदीये षड् वाक्यार्थाः निरुपिताः। तद्यथा- संसर्गो वाक्यार्थः- अभिहितान्वयवादमते। निराकांक्षपदार्थो वाक्यार्थः- अभिहितान्वयवादमते। प्रयोजनं वाक्यार्थः- अभिहितान्वयवादमते। क्रिया वाक्यार्थः- अन्विताभिधानमते। संसृष्टो वाक्यार्थः- अन्विताभिधानमते। प्रतिभा वाक्यार्थः- शाब्दिकसम्मतः। प्रतिभा वाक्यार्थ इति वैयाकरणानाम् अभिनव आविष्कारोऽस्ति। प्रतिभाशब्दोऽयं प्रतिभात्यर्थोऽनयेति सा प्रतिभेति व्युत्पत्तौ प्रत्युपसर्गपूर्वकाद् भाधातोः आतश्चोपसर्गे कः[1] इति करणेऽर्थे कप्रत्यये टापि च कृते प्रतिभाशब्दो निष्पद्यते। प्रतिभायत इति च। बुद्धौ, प्रत्युत्पन्नबुद्धौ दीप्तौ वेत्यर्था वाचस्पत्ये शब्दकल्पद्रुमे चावलोक्यन्ते। "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता" स्वीये कोशे यथाह रूद्र इति। शब्दश्रवणानन्तरं प्रतिपत्तुः प्रतिपत्तृत्वशक्तिरूदीयमाना प्रतिभोच्यते। पदार्थैरुपपादितां प्रतिभामेव वाक्यार्थं व्याचष्ट भर्तृहरिः।[2] अभ्यासादिवशाच्छब्दः प्रतिभां जनयति। नवनवोन्मेषशलिनीयं प्रतिभा प्रयत्नसमधिगम्या भवति। प्रतिपत्तुः प्रतिभाप्राबल्यं शब्दार्थविस्तरस्य भवति प्रयोजकम्। आम्रवृक्षशब्दं संश्रुत्य बालः वृक्षमात्रमवगच्छति, युवा च संस्मृतफलास्वादो भवाति, उद्यानविद्याविदश्च तेन ततोऽपि विलक्षणा जायते प्रतिभा। प्रतिपत्तृभेदाद् एक एव शब्दः अर्थभेदं जनयति। स्वरूपतः कश्चिच्छब्दः कञ्चन नियतमर्थं न बोधयति। सर्वोऽपि प्रतिपत्ता स्ववासनानुसारेण स्वप्रतिभानुसारेण च शब्दानामर्थं निर्धारयति। पुण्यराजस्त्वाह[3]-पदार्थमतिर्भिन्ना या वाक्यार्थमतिः सा प्रतिभेतिस्फुटम्। सैव प्रतिभा। प्राह च महावैयाकरणो भर्तृहरिः।

तथा हि-

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्॥

भर्तृहरिणा अष्टौ वाक्यविकल्पा निरुपिताः तत्र स्फोटमभिलक्ष्य प्रवृत्तेऽखण्डवाक्यपक्षे त्रयो वाक्यभेदा विद्यते। तथा हि- **सङ्घातवर्तिनी जातिर्वाक्यम्। एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यम्। बुद्ध्यनुसंहृतिर्वाक्यञ्चेति।** त्रिष्वपि वाक्यलक्षणेषु प्रतिभा वाक्यार्थ इति

1. पाणिनीयसूत्रम् 3.2.3
2. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते। वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्॥ वाक्यपदीयम् 2.143
3. वाक्यपदीयम् 2.144-145

स्वीक्रियते। एवञ्च अखण्ड एकोऽनवयवः स्फोटलक्षणः शब्दो वाक्यं प्रतिभावाक्यार्थः, परस्परमध्यासश्चतयोः सम्बन्ध इति वैयाकरणामभिमतः सिद्धान्तः। प्रत्यक्षादिज्ञानसाधनमपेक्ष्यैव प्रतिभा प्रजायते। वशीकृतचितवृत्तीनां योगीनामपि प्रतिभा प्रत्यक्षाद्यानपेक्षिणी न भवति। तथा ह्युक्तं मीमांसादर्शने–

लौकिकी प्रतिभा यद्वत्प्रत्यक्षाद्यनपेक्षिणी।
न निश्चयाय पर्याप्ता तथा स्याद् योगिनामपि।।[1]

एतदेव प्रतिभायाः स्वरूपमाह हरिरपि

इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्चन।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्माणि न निरुप्यते।।[2]

सा च पुनः किंस्वभावेत्युच्यते–

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते।।[3]

विलक्षणायां प्रतिभायां प्रत्युत्पन्नमतित्वं भवति। प्रतिभामेव भर्तृहरिः स्थितलक्षणमर्थं पर्यगणयत्। तथा हि–

अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चाऽपि प्रतिपादिकाः।।[4]

कवीनां कवित्वे हेतुभूतापि सैव प्रतिभा। यदुक्तं काव्यप्रकाशे–

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।[5]

अत्र शक्तिः प्रतिभापरपर्यायेति केचन। कैश्चिच्छक्तिप्रतिभयोर्भेदोऽपि प्रतिपाद्यते। उपर्युक्तकारिकायां शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहासनीयं स्यात्। शक्तिमेव विवृण्वन् रूद्रट आह–

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।।[6]

---

1. मीमांसादर्शनम् 1.1.4 श्लोकवार्तिक।
2. वाक्यपदीयम् 2.144
3. वाक्यपदीयम् 2.145
4. वाक्यपदीयम् 2.145
5. काव्यप्रकाश 1.3
6. काव्यालंकारः

एतया रीत्या शक्तिप्रतिभयोः स्वरूपमुदीरयन्ति आचार्याः। तस्मात् सर्वोऽपि व्यवहारः प्रतिभानियत इति मन्तव्यः। वक्तुः श्रोतुर्वा भावनासंघातः प्रतिभा जायते। प्रतिभा न खलु मनुष्येष्वेव प्रदुर्भवति, अपि तु खगादीनामपि कार्यसमारम्भाः प्रतिभाबलादेव सञ्जायन्ते। प्रयोक्तारः प्रतिपत्तारश्च स्वप्रतिभाया एव प्रामाण्यमभिमत्य परस्परं व्यवहरन्ति।

भर्तृहरिणा निमित्तभेदेन प्रतिभायाः षड्विध्यं प्रदर्शितम्। **तथाहि- स्वभावचरणाभ्यास-योगदृष्टोपपादिताम्। विशिष्टोपहिता चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥**[1] भोजग्रन्थेऽस्याः[2] परिगणनं भिन्नरीत्या कृतमिति दृश्यते। तत्र पूर्वजन्मजनितशब्दश्रवण-संस्कारोद्बोधकानि त्वन्यानि कालाभ्सासदृष्टयोगध्यानानुध्यानादीनि साधनानि इति।

शाब्दिकैस्तु एकः अभिनव आविष्कारः कृतः। स च प्रतिभा वाक्यार्थ इति। श्रुतैः शब्दैः प्रतिपत्तुः बुद्धिः प्रादुर्भवति। एषा बुद्धिरेव प्रतिभा कथ्यते। जगतः सृष्टिः प्रतिभयैव जायते। वाक्तत्त्वं प्रतिभैव भोक्तृभोग्यभोगरूपेण विवर्तते न बाह्यं वस्तु किञ्चिदस्ति। बाह्यस्य वस्तुनोऽभावात् प्रतिभैव वाक्यार्थः। तथा हि- यथावस्थिते वनितात्मनि बाह्येऽर्थे वासनानुसारेण कुणप इति कामिनीति भक्ष्यमिति प्रतिभा भवन्ति तथा असत्यपि व्याघ्रागमने व्याघ्र आगत इत्युक्ते शूरणामुत्साहः कातराणां भयं भवतीति शब्दादर्थप्रतिभा भवति इति प्रतिभामात्रं जगत्। अतएव असत्यपि बाह्येऽर्थे एष बन्ध्यासुतो याति, राहोः शिर इत्यादि वाक्यतोऽर्थप्रतिभा इति शब्द एव तत्तदाकारेण विवर्तते।

एवञ्च अखण्डः स्फोटलक्षण एकः शब्दो वाक्यम्, प्रतिभा च वाक्यार्थः, अध्यास एव सम्बन्धः, वाच्यवाचकभावापरपर्याया शक्तिः, तस्या ज्ञापकमितरेतराध्यासमूलं तदात्म्यम् इति शाब्दिकानां निष्कर्षः।

सहायक-ग्रन्थाः

1. भर्तृहरि, (सं.-रघुनाथ शर्मा) वाक्यपदीयम्, 1980, वाराणसी, संपूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयः।
2. पतञ्जलि, (सं. भार्गव शास्त्री जोशी), व्याकरण-महाभाष्यम्, 1991, दिल्ली, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।
3. पाणिनि, अष्टाध्यायी, 2003, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।
4. जयन्तभट्ट, (ट.छ.श्रीं), न्यायमञ्मरी, 1995, दिल्ली, श्री सत्गुरु प्रकाशन।

---

1. वाक्यपदीयम् 2.152
2. श्रृंगारप्रकाश 214

5. वाचस्पति उपाध्याय, मीमांसा दर्शन विमर्श, 1976, दिल्ली, भारतीय विद्या प्रकाशन।
6. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिकम्, 1979, वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन।
7. मम्मटः, काव्याप्रकाश, 1960, वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड।
8. गौतम, न्यायदर्शनम्, 1985, दिल्ली, मुंशीराम मनोहरदास पब्लिशर्स।
9. यास्क, निरुक्तम्, 2005 चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

✦✦✦

सत्यार्थप्रकाशानुसारं मोक्षोपायाः

-डॉ. देवीसिंहः

संस्कृतप्राध्यापकः, सनातनधर्ममहाविद्यालयः
सै. 32, चण्डीगढ़म्

भारतीयदार्शनिकसम्प्रदायेषु प्रत्येकस्मिन् दर्शने भिन्नानि मुक्तिसाधनानि। जन्ममरणरूपबन्धनस्यात्यन्तिकविनाश एव भवति मोक्षः। चार्वाकमतानुसारं तु 'देहच्छेदोमोक्षः' भवति। बौद्धानुसारं 'निर्वाण' इत्यनेन शब्देनाभिधीयते। एवं प्रकारेण षड्दर्शनेषु अपि स्व-स्वमतानुसारं मुक्तेः स्वरूपं स्थितम्। परमाधुनिकसमये यदा मानवसमाजे युगद्रष्टा-महर्षिदयानन्दस्याविर्भावोऽभवत् तदैवलोके मोक्षस्य विषये एकस्याः नवीनविचारधारायाः प्रचारप्रसारोऽभवत्। एकस्य ऋग्वेदमन्त्रस्यार्थंकुर्वन् महर्षिदयानन्दः लिखति यत् यस्मिन् परमात्मनि सवितृमण्डलादिप्रभृतिलोकलोकान्तराः द्वीपद्वीपान्तराश्चसर्वे लयाः भवन्ति तद्विषयकोपदेशेनैवसाधकजनाः मोक्षमवाप्नुवन्ति।[1] अत्रैतद् स्पष्टमस्ति यत् समस्तजगतः कारणरूपपरमात्मानं ज्ञात्वैव जीवात्मा मुक्तिं प्राप्नोति। ऋग्वेदे एव एकस्य मन्त्रस्य भाष्यं कुर्वन् महर्षिदयानन्दः कथयति यत्-अनाद्यनन्तकालाद् अयं विश्वः उत्पन्नः नष्टश्च भवति, जीवाः उत्पद्यन्ते विनश्यन्ते च। अस्मिन् विश्वे जीवाः यादृशं कर्म कुर्वन्ति, तादृशं फलं च प्राप्नुवन्ति ईश्वरप्रभावेण। ये जनाः परमात्मानं तस्य च गुणकर्मस्वाभानुकूलाचारणं न ज्ञात्वास्वमनसा कर्म कुर्वन्ति, ते अनवरतरूपेण पीड्यन्ते तथा च ये जनाः एतस्मात् विपरीतकार्यं कुर्वन्ति ते जनाः सदैव आनन्दं भुज्यन्ते।[2] अत्र अज्ञानात् दुःखम् अर्थात् बन्धनं भवति, ज्ञानात् मोक्षं भवति अस्मिन् विषये कथ्यते।

महर्षिदयानन्दः जीवात्मनः बन्धनस्य कारणम् अविद्याम् (अज्ञानम्) मन्यते। सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासे ऋषिः कथयति यत् विद्यायाः अविद्यायाः च उभयोः ज्ञानावश्यकम्।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥[3]

---

1. यत्र सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्स्वरन्ति।
   एनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश॥ -ऋग्वेद, 1.164.21
2. ऋग्वेद, 1.164.22
3. यजु. 40.14

यः मानवः विद्यायाः (ज्ञानस्य) अविद्यायाः (अज्ञानस्य) च उभयोः स्वरूपं सम्यग्रूपेण जानाति। सः अविद्यया (कर्मोपासनया) मृत्युं तीर्त्वा विद्यया (यथार्थज्ञानेन) मोक्षमवाप्नोति। अविद्या का भवति? अस्मिन् विषये महर्षिपतंजलिना योगदर्शने एकस्मिन् सूत्रे कथितम्- 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'[1] अर्थात् य अनित्यपदार्थेषु नित्यता मन्यते, यथा इदं मानवशरीरमनित्यमस्ति परमविद्यया (अज्ञानेन) इदं नित्यमस्ति इति स्वीकरोति मानवः। अशुद्धपदार्थान् शुद्धं मन्यते अज्ञानेन एव। दुःखं सुखरूपे अवगच्छति। शरीरं, इन्द्रियाणि, मनश्च एतानि सर्वाणि आत्मा न सन्ति परं अविद्यया मानवः इमानि सर्वाणि आत्मा एव अवगच्छति। एवं प्रकारेण वयं कथयितुं शक्नुमः यत् अस्मिन् संसारे महर्षिदयानन्दानुसारेण जनाः भवबन्धने स्थिताः सन्ति। मोक्षस्य प्राप्नोति केन प्रकारेण भवति? कानि साधनानि भवन्ति मुक्तेः? ऋषिदयानन्दः कथयति यत् चत्वारि साधनानि अनुबन्धचतुष्टयश्च मुक्तेः पृष्ठभूमिः सन्ति।[2] चत्वारिसाधनानि सन्ति- विवेक, वैराग्यं, षट्क-सम्पत्तिः, मुमुक्षत्वं च सन्ति। सत्पुरुषैः सह विवेकः अर्थात् सत्यासत्यस्य, धर्माधर्मस्य कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य निश्चयमवश्यमेव करणीयम्।[3] पृथक्रूपेण ज्ञातव्यं तथा च जीवने पंचकोशानां ज्ञानमावश्यकं भवितव्यम्। एकः भवति 'अन्नमयकोशः' अस्मिन् त्वगिन्द्रियतः अस्थिपर्यन्तसमुदायः पृथिवीमयो भवति। द्वितीयः 'प्राणमयकोशः' भवति। तृतीयः मनोमयकोशः भवति। अस्मिन् कोशे मनसा सह वाक्, पाणिः, पादः, वायुः, उपस्थः इमानि इन्द्रियाणि भवन्ति। चतुर्थः विज्ञानमयकोशः यस्मिन् बुद्ध्या सहचितं, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा प्राणं च भवन्ति। पंचम आनन्दमयकोशः भवति अस्मिन् कोशे प्रीतिः, न्यूनानन्दः, अधिकानन्दः, कारणरूपप्रकृतिः भवति। एते पंचकोशा भवन्ति। एतैः सह एव जीवः कर्मोपासना-ज्ञानादीनां व्यवहरति।[4] तिस्रः अवस्थाः सन्ति जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिश्च। त्रीणि शरीराणि च-स्थूलशरीरम्, सूक्ष्मशरीरम्, तुरीयशरीरं च।[5] एतेभ्यः कोषेभ्यः अवस्थाभ्यश्च जीवः पृथगस्ति यतोहि यदा मृत्युः भवति तदा सर्वे कथयन्ति जीवः गतः। अयमेव जीवः सर्वेषां प्रेरकः, धर्ता, साक्षी, कर्ता, भोक्ता भवति। यदि कोऽपि जीवं कर्ता, भोक्ता न स्वीकरोति तर्हि सः मानवः अविवेकी भवति। जीवं विना सर्वे जडपदार्थाः भवन्ति।[6] वैराग्यमपि मुक्तेः साधनं भवति। यः कोऽपि विवेकात् सत्यासत्यं जानाति, तयोः सत्याचरणस्य ग्रहणम् असत्याचारणस्य च त्यागः विवेकः भवति। यः पृथिवीप्रभृतिपरमेश्वरपर्यन्तं पदार्थानां

1. योगदर्शनम्, साधनपादे, सूत्रम् 5
2. सत्यार्थप्रकाशः, नवमः समुल्लासः।
3. तदेव
4. तदेव
5. तदेव
6. तदेव

गुण-कर्म-स्वभावं च ज्ञात्वा तस्याज्ञापालने उपासनायां च तत्परो भवति सः विवेकीपुरुषः भवति।[1] तृतीयंसाधनं भवति- षट्कसम्पत्तिः शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधनं च एताः षट्कसम्पत्तयः। शमः यस्मात् स्वात्मानमन्तःकरणं चाधर्माचरणादपवार्य धर्माचरणे सदाप्रवृत्तं करणीयम्। 'दमः' यस्मात् श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि शरीरं च व्यभिचारादि-दुष्टकर्मेभ्य अपवार्य जितेन्द्रियत्वादिशुभकर्मसुप्रवृत्तं करणीयम्। 'उपरतिः' यस्मात् दृष्टकर्मकरेभ्यः मानवेभ्यः दूरं भवनीयम्। 'तितिक्षा' अस्यां निन्दा-स्तुति-हानि-लाभादीनां चिन्तां विहाय हर्षं शोकं च त्यक्त्वा मुक्तेः साधनेषु संलग्नम्। 'श्रद्धा' वेदादिसत्यशास्त्रेषु आप्तेषु विद्वद्वचस्सु विश्वासः करणीयः। 'समाधनम्' अर्थात् चित्तस्यैकाग्रता।[2] चतुर्थः साधनं भवति- 'मुमुक्षत्वम्' यथा क्षुधायुक्तः तृषातुरश्च अन्नं जलं च विना किमपि न स्वीकरोति तथैव मोक्षेच्छायुक्तजनस्य मुक्तसाधनेभ्यः इतरसाधनेषु अर्थात् सांसारिकवस्तुषु प्रीतिः न भवति।[3]

अनुबन्धचतुष्टयमपि मोक्षसाधनमस्ति। एतेषु चतुर्साधन-युक्तपुरुषः एव मोक्षस्य 'अधिकारी' भवति।ब्रह्मप्राप्तिरूपमुक्तिप्रतिपाद्यं वेदादिशास्त्रप्रतिपादकं च यथावत् ज्ञात्वा एतयोः अन्वितः करणीयः 'सम्बन्धं' भवति। सर्वेषां शास्त्राणां प्रतिपादनविषयः ब्रह्म अस्ति। सर्वेषां दुःखानां निवृत्तिः 'प्रयोजनं' भवति।[4] तदनन्तरं 'श्रवणचतुष्टयम्' अपि मोक्षसाधनमस्ति। 'श्रवणम्' यदाकोऽपिविद्वान् उपदिशति तदा शान्तमनसा ध्यानेन तस्य ब्रह्मविद्यायाः विषयरूपोपदेशं श्रोतव्यः, यतो हि इयं सर्वासु विद्यासु सूक्ष्म-विद्या अस्ति। 'मननम्' एकान्तदेशे उपविश्य श्रुतस्य विचारणीयः। शंकायाः समाधानार्थं प्रष्टव्यम्। 'निदिध्यासनम्'- यदा श्रवणे मनने च निःसन्देहः भवति तदा समाधिस्थभूत्वा अवगमनं करणीय यत् यथा श्रुतं यथा विचारितं तत् सर्वं तथैव अस्ति न वा। चतुर्थश्रवणं भवति साक्षात्कारः- यथापदार्थस्य गुणस्वाभावोऽस्ति तथा यथातथ्यरूपे ज्ञातव्यं 'श्रवणचतुष्टयं' भवति।[5] कोऽपिमानवः ज्ञान-कर्म-उपासनारहितः न भवति। अतः मिथ्याभाषणादि-अधर्मयुक्तकर्माणि त्यक्त्वा धर्मयुक्त सत्यभाषणादिकर्मकरणीयमेवमुक्तेः साधनं भवति।

मुण्डकोपनिषदि कथितम्-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥[6]

---

1. तदेव
2. तदेव
3. तदेव
4. तदेव
5. तदेव
6. मुण्डकोपनिषद् 2.2.8

अर्थात् यदा जीवस्य हृदये स्थिता अज्ञानरूपग्रन्थिः छिनत्ति तदैव सर्वेषां संशयानां समाधानं भवति। अभिप्रायोऽयमस्ति यत् यदा मानवस्य दुष्टकर्माणां क्षयं भवति तदेव तस्य परमात्मनः, यः आत्मनः अन्ते बहि च व्याप्नोति, समीपे निवसति। अन्ते संक्षेपरूपेण अहमेतदेव कथयिष्यामि यत् यः जीवः परमेश्वरस्य आज्ञायाः पालनं करोति, उत्तमकर्म करोति सत्संगं करोति, योगाभ्यासं करोति अपि च पूर्वोक्तानिसर्वाणि साधनानि करोति, स एव मुक्तिं प्राप्नोति।

✦✦✦

A Comparative Study of the Verbal Roots of Persian and Sanskrit

--J.L. Kamboj

Sanskrit and Persian are the languages which belong to the Aryan or Indo-Iranian group of the Proto Indo European Family. Before entering Iran and India the Aryans had been living for a long time in central Asia at the very doors of Iran and India, spoke the same language with come dialectical differences, and worshipped the same gods Agni, Indra, Varuṇa, etc. with the prayers composed in verse and offering libations in Fire. The group living to the west entered Iran and living to the east entered India, both with their dialects and faith.

Both the dialects gradually developed separately as fullfledged languages. The language of the Iranian Aryans is preserved in the *Avistak,* the oldest scriptures of the Parsis, and is called Avesta. A part of this collection is written in a dialect called Gāthā-Avestic. This is older than the other one and bears a very close affinity to the language of Vedic hymns. As in the cose of the Veda, it is very difficult or rather impossible, to determine the date language and the works written in it. Along with Avesta in the east, there was another dialect in the west, called 'Old Persian dialect, which is preserved in the cuneiform inscriptions of king Darius and his successors'.

A younger form of the Old Persian is Pahlvi and is preserved in the inscriptions of the kings of Sassanian dynasty (224-651 AD). It is in a form of this Pahlvi that commentaries on the Avesta are written. This is called mid-Iranian. After this comes the modern Iranian, dating from the 9th century A.D., which includes Persian proper, Kurdish, Pashto, etc.

The relation of these three stages to one another is the same as the relation of the Vedic or the Old Indo aRyan to the Pali and Prakrit or the Middle Indo Aryan and the Modern Indo Aryan. This is also remarkable that the relation between the Gatha Avesta and the New Avesta or Middle Iranian is the same as the relation between Old Sanskrit, i.e. Vedic and the Classical Sanskrit.

How closely allied the Avestan is to Old Sanskrit (i.e. Vedic), though individually quite distinct from the latter, may be clearly seen from such passages as the following:

təm amavantəm yazatəm sūrəm dāmədhu saviśtəm.

miørəm yazai zaoþṛdhyó.

With certain phonetic changes this gatha can be transformed almost into the following Vedic version.

तम् अमवन्तं यजतम् शूरं धामसु शविष्ठम्।
मित्रं यजे होत्राभ्यः॥

(Jackson, Avesta Grammar, Introd. p. xxi.)

With the passage of time both the groups of languages, The Iranian and the Indin, developed in their differnt geographical cal and social conditions and came into contact with differnt typs of languages. The Indian group of Aryan laguages came into contact with the Dravidian and other aboriginal Indian languages such and Munda, and the Iranian group, i.e. Persian came under the influesce of Arabic, etc. As time passed on, differences went on increasing and at the third stage we see a world of difference between the two groups. But one thing is common that at the last stage the languages of both the groups have reached fully to their analytic stage. Sanskrit, however, under the strong influence of Paninian gammar has retaind its inflectional stage.

When we compare the phonology of Sanskrit and Persian, we find the following drastic differences between the two:

(a) Vowels : All the Sanskrit vowels are retained in Persian. They agree in quality and quantity to Skt. vowels. How ever sometimes Persian show difference with Sanskrit both in quality and quantity. Moreover while Sanskrit has only long or bimoraic e and o, Persian has short or monomoraic *e* and *o* also.

(b) Consonants:

1. The Indo Aryan has developed carebral sounds *ṭ*, *ḍ*, etc., while the Persian is quite wanting in it.

2. Against the five palatals of the Indo Aryan, Persian has only *c* and *j*.

3. Sanskrit voiced aspirates घ्, धृ, भ् have changed to *g,d, b* in Persian. For example Skt. धर्म > p. *garm*, Skt. वृध् > P. *vard*, Skt. सिन्धु >

P. *Hindu*. Skt. भ्रातर > p. *birādar*, Skt. भृ > P. *bar*, Skt. भूमि > P. *būm*.

4. Sanskrit voiceless aspirates kh, th, ph in Persian have changed to voiceless unaspirate *k, t, p*. For example Skt. खन् > *kan*, Skt. स्था > P. *Stā*.

5. Sanskrit voiceless unaspirate sounds क्, त्, प् have changed to fricative x, *Φ, f* before consonants. For example Skt. क्रुश् > P. *xaroś*, Skt. क्रीत > P. *xarīd*, Skt. मित्र > Av. *miΦra*, Skt. तप्त > p. *tāft*. Skt. प्रोक्त > p. *faroxt.*

After the invasion and occupation of Iran by the Arabs, under the influence of Arabic phonology, which did not have a *p* sound but *f* only, Skt. प् or Persian *p* before vowels also, in some other words changed to *f*, e.g. Skt. पारसीक and P. *pārsī* has changed to P. *fārsī*. Similarly P. *pīl* has changed to *fīl*. Persian *suped* (Skt. *śveta*) has changed to *sufed*.

6. Sanskrit voiced unaspirate sounds ग्, द् have changed to voiced spirants *gḥ*, *dḥ* (þ) in Persian, For example Skt. मेघ in Persian first changed to *meg* and then to *megḥ*.

7. Sanskrit स् has changed to *h* in Persian. For example Skt. सप्त has changed to p. *hafta*. Skt. सिन्धु has changed to *p. Hindu*.

8. Sanskrit ह् has changed to z in Persian. For example: Skt. सहस्र has changed to P. hazār. Skt. हन् has changed to P. zan. Skt. *hasta* first changed to Av. and Pehl. *zast*, and then *zast* to Persian dast (*h*>*z*>*d*).

9. Sanskrit ज् has also changed to z. for example: Skt. जानु> P. *zānu*, Skt. जात > P.zād.

10. The Sanskrit conjunct sound श्व् has changed to *sp* in Persian, e.g. अश्व > *aspa*, श्वेत-*sped*>*sfed*>*sufed.*

11. We don't have *ṣ* in Persian. Here it has become *ś* or s. *ś* and s are also occasionally interchangable.

12. Spirant *s*, *ś* and *ṣ* change to spirant x. For example Skt. supta Persian *xuft*, Skt. *śvasura* Persian *xusar*, Skt. *riṣṭ* Persian *rext*.

Accordig to Pāṇini there are 1962 verbal roots in all, in Sanskrit. Out of these 1943 are recorded in the Dhātupāṭha and 19 have been found in the *Aṣṭādhyāyī* and the *Uṇādi* sūtras and are accordingly called *sautrā dhātavaḥ*. These are known as primitive roots. These roots when take some particular suffixed for the formation of (1) Causative, (2) Desiderative,

(3) Intensive or Frequentative and (4) Denominative bases, are called secondary roots.

In Sanskrit there are 6 tenses, viz. i. Present (लट्), 2. Aorist (लुङ्), 3. Imperfect (लङ्), 4. Perfect (लिट्), 5 First Future (लुट्), and 6. Second Future (लृट्).

There are 5 moods, viz. 1. Imperative (लोट्), 2. Potential (विधिलिङ्), 3. Benedictive (आशीर्लिङ्), 4. Conditional (लृङ्), and 5. Subjunctive (लेट्) (met with in the Veda only).

There three voices, 1. the Active Voice (कर्तरिप्रयोगः), 2. the passive Voice (कर्मणिप्रयोगः) and the Impersonal Construction (भावेप्रयोगः).

There are two sets of personal terminations. One is called *Parasmaipada* (परस्मैपद), and the other *Ātmanepada* (आत्मनेपद). Some roots take exclustively the *Parasmaipada* terminations, while others take exclusively the *Ātmanepada* terminations, but some take both of them.

Every verbal root, whether primitive or derivative, may be conjugated in all the tenses and moods. Transitive verbs are conjugated in the Active and Passive voices and the Intransitive verbs are conjugated in the Active and Impersonal forms.

In the Present and Imperfect tenses and the Imperative and the Potential moods the roots undergo peculiar modifications called *vikaraṇas*, and these are called *sārvadhātuka* or special tenses and moods. The remaining tenses and moods are called *ārdhadhātuka* or general.

There are three persons in Sanskrit, viz. *prathama-puruṣa* (Third Person), *madhyama-puruṣa* (Second Person) and *uttama puruṣa* (First Person). Every Person has three numbers, viz. singular, dual and plural.

According to the *Safvātulmasādar* or *Āmadanāmah* there are about 300 infinitives in Persian. They are called masdars. They end in *tan* or *dan* according to the nature of the last sound of the preceding stem. If it is voiceless, it will take tan, e.g. *garif-tan* 'to take hold of', and if it is voiced it will take dan, e.g. *xūr-dan* 'to eat'. When we drop the an of a masdar (infinitive), in the remaining portion we get the past-stem of the verb. For example by dropping an of *āmadan* we get *āmad*. It is simple or Absolute Past and has the sense 'He came'. It is the basis of all the past tenses. It is also the base of the Future tense. If we add *xvāhad* before it, then we get *xvāhad āmad* which means 'He will come'.

In Persian we have three Persons, viz. I. *Ghāyab* (the Person in Absentia, i.e. the Third Person) 2. *Hāzar* (the Person in Presence or the Addresse, i.e. the Second Person) and 3. *Mutkallam* (the Person who addresses, i.e. the First Person). Every Person has two numbers, 1. *Vāhid* (singular) and 2. *Jamaå* (plural).

The Past tense is of six kinds:

(1). *Māzi Muttalaq* (Simple past). Its paradigms are-*āmad* 'He came', *āmadand* 'They came', *āmadi* "Thou camest". *āmadīd* 'You came', amadam 'I came', *āmadīm* 'We came'. These are the Active Voice (*Maåruf*) forms. The passive Voice (*Majhūl*) forms would be kardah sud 'is done', etc.

(2). *Māzi Qarīb* (Near Past). *āmadah ast* 'He has come', *āmadah* and 'They have come', *āmadah ī* 'Thou hast come', *āmadah īd* 'You have come', *āmadah am* 'I have come', *āmadah īm* 'We hae come'.

(3). *Māzi Baåid* (Remote Past). *āmadah būd* 'He had come' *āmadah būdand* 'They had come', *āmadah būdī* 'thou hadst come', *āmadah būdīd* 'You had come', *āmadah būdam* 'I had come', *āmadah būdīm* 'We had come'.

(4). *Māzi Nātamām* (Past Continuous or Imperfect Past) *: mī āmad* 'He was coming', *mī āmadand* 'They were coming', *mī āmadī* 'Thou wast coming', *mī āmadīd* 'You were coming'. *mī āmadam* 'I was coming', *mī āmadim* 'We were coming,.'

(5). *Māzi Ahatmāli* (Probable Past): *āmadah bāśad* 'He might have come', *āmadah bāśand* 'They might have come', *āmadah bāśi* 'Thou mightst have come', *āmadah bāśīd* 'You might have come', *āmadah bāśam* 'I might have come', *āmadah bāśīm* 'We might have come'.

(6). *Māzi Tamannāī* (Wishful Past): *āmade* 'He should have come', *āmadande* 'They should have come', *āmadame* 'I should have come'.

(7). *Mustaqbil* (Future Tense): *xvāhad āmad* 'He will come', *xvāhand āmad* 'They will come', *xvāhī āmad* 'Tou willst come', *xvāhīd āmad* 'You will come', *xvāham āmad* 'I shall come', *xvāhīm āmad* 'We shall come'.

The forms of Present Tense and Imperative Mood are based on special forms of *Masdar* (Infinitive), which are called *Muzāraå* (Present Stem). For example the infinitive *āmadan* has *āyad* as its *Muzāraå*. From the infinitive karadan 'to do' we have kunad as its *Muzāraå*.

(8). *Hāl* (Present Tense): Before *Muzāraå* the prefix *mī* is added to get the Present Tense forms. For example : *mī āyad* 'He comes', *mī āyand* 'They come', *mī ayī* 'Thou comest', *mī āyīd* 'You come', *mī āyam* 'I come', *mī āyīm* 'We come'. These are the Active Voice (*Hāl Maåruf*) forms. Passive Voice (*Hāl Majhūl*) forms would be kardah *mī śavad* 'it is being done', Kardah *mī śavand* 'Those are being done', etc.

(9). Imperative mood is of two kinds (a) Positive and (b) Neggative. Examples from verbal root *karadan* are given below : (a) Positive Imperative : kunad 'He is ordered to do', *kunand* 'They are ordered to do', *kun* 'Thou doest', *kunīd* 'You do', *kunam* 'I am ordered to do', *kunīm* 'We are ordered to do'. Negative Imperative : *makunad* 'He is ordered no to do', *makunand* 'They are ordered no to do', *makun* 'Thou don't do', *makunid* 'You don't do', *makunam* 'I am orered not to do', *makunīm* 'We are ordered no to do'.

In the following pages we shall trace out the relationship of some Persiam verbal roots to tieir cognates in Sanskrit :

1. *āmadan* 'to come, arrive'. For this root we may get a clue from its *Mazāraå* from *āyad*, where *ā* is clearly a prefix, having the sense 'hitherward', and *ya* in *yad* represents the Sanskrit √*yā* 'to go'.

2. *āvardan* 'to bring'. In *āvardan ā* is a prefix. In *vardan vard* in clearly from the Sanskrit √*vṛt* 'to turn'. In the Persian orrt *āvardan* the vowel *ṛ* has changed to its gunated from *ar* and voiceless *t* has changed to voiced *d* and then dropped before the *d* of *dan*.

3. *āramīdan / ārāmīdan* 'to take rest, to give rest'. In *āramīdan ā* is a prefix and *ram* is from Sanskrit √*ram* 'to rejoice, take rest'. In the *Ṛgveda* the √*ram* is used in the sense 'to stop, set to rest', e.g. यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। (RV. II. 12.2). 'Who set to rest the agitaing mountains' *ārāmīdan* is the same as *āramīdan* with the difference that a has lengthened to *ā*.

4. *āzardan* 'totrouble, tease, be troubled'. Here *ā* is a preposition. *zar* may have a cognate in Skt. √*jṛ* 'to waste away, be consumed'. where *ṛ* of *jṛ* has guṇated to *ar* and *j* has changed to z. Or it may be a cognate of Skt. √*ruj* 'to break', which has metathetically changed to *jur*, where *j* has changed to *z* and *u* has changed to a.

5. *āśāmīdan* 'to drink'. Here *ā* is a preposition. *śām* or *śam* is a congnate of Skt. √*cam* 'to sip', where voiceless unaspirate palatal *c* of cam has changed to voiceless spirant palatal *ś* and *a* has lenghened to *ā*. *ī*

has been inserted for the convenience of prounuciation.

6. *āfrīdan* 'to beget, create'. Here *ā* is a prefix. *frī* is a cognate of Skt. √*prā* 'to fill', which may be a euphamistic usage for 'to put foetus, beget'. The labial *p* before conjunct *r* has changed to labial spirant *f* and long ā has qualitatively changed to long *ī*.

7. *āśuftan* 'to disturb, be disturbed, be agitated'. *ā* is a prefix. *śuf* in *śuftan* may be a cognate of √*kṣubh* 'to shake, tremble, be agitated', where *kṣ* changed to ch and *ch* to *ś*. bh changed to *b*, voiced *b* changed to voiceless *p* and p to fricative f.

8. *āgāhīdan* 'to make cautious'. Here ā is a prefix. *gāh* in *gāhīdan* is a cognate of Skt. √*gāh* 'to plunge'. *ī* has been in serted before *danfor* pronunciation. However, there is a big gap between the senses of the roots of both the languages.

9. *āgandan* 'to fill, stuff'. Here *ā* is a preposition and *gand* a cognate of Skt. √*gandh* 'to injure, hurt'. The word *gandhana*, a derivative of √*gandh*, has the sense 'pointing out or alluding to the faults of others, filling ears, back-biting'. From the sense 'to fill ears' the root might have extended its sense to 'to fill'.

10. *āmoxtan* 'to learn, teach'. Here *ā* is a preposition. *mox* is a cognate of Skt. √*muṣ* 'to snatch. take away'. With reference to आ गा अमुष्णात् (RV. X. 67.6). *MW*. gives the meaning of a *muṣ* as 'to draw or to pull towards one's self, to take away'. The sense further seems to have extended to 'to obtain, gain knowledge, learn', and then 'to teach' also. The sense-development of *āmoxtan* seems to be parallet to that of Skt. *adhi*√*i* 'to receive, obtain', which with the passage of time developed the sense 'to receive knowledge, learn'. The sound *u* changed to *o* and *ṣ* has changed to spirant x.

11. *āmūdan* 'to fill, make ready'. Here *ā* is a preposition. *mū* in *mūdan* may be a cognate of Skt. √*mū* 'to bind, tie, fix'. The difference in the senses of the two is subject to reserch.

12. *āmextan* 'to mix, compound'. Here *ā* is a preposition. *mex* is a cognate of Skt. √*mikṣ* or √*mimikṣ* (prob. a desid. from a lost *miś* contained in *miśra* and *miśla*), 'to stir up, mix, mingle'. (*MW*.). Here *i* has guṇated to *e* and *kṣ* has changed to spirant *x*. There is a complete agreement between the senses of the roots of both the languages. Or mex may be a cognate of Skt. √*migh*(=*mih*) 'to void or pass urine, emit seminal fluid.' Here also *i*

has changed to its gunated from *e*. *gh* first changed to unaspirate *g*, then *g* changedto voiceless *k* and *k* changed to spirant *x*. The sense of the Persian verbal root is related to the verbal root of Sanskrit.

13. *āvextan* 'to hang, suspent'. Here *ā* is a prefix. *vex* may be a cognate of Skt. √*viṣ* 'to be active, extend, pervade, encounter'. *i* has guṇated *to e* and *s* has changed to fricative *x*.

14. *arzīdan* 'to get price, be worth'. Here the toot *arz* has its cognate in Skt. √arj 'to earn, procure, acquire'. The sound *j* has changed to *z* and an augment *ī* is inserted after the root for pronunciation. Here the senses of the roots are akin.

15. *istādan/īstādan* 'to stand'. The initial *i* or *ī* has developed as a prothesis to avoid the uneasiness in the pronunciation of the conjunct *st*. *stā* in *stādan* is clearly a cognate of Skt. √*sthā* 'to stand'. Here the voiceless aspirate *th* has changed to unaspirate *t*. Both the roots have the same meaning.

16. *uftādan / ūftādan* 'to fall down, happen'. The initial *u* or *ū* has develpoed as a prothesis to avoid the uneasiness in the pronunciation of the following conjunct *ft*. *ftā* is a cognate of Skt. √*pat*, which originally means 'tofly, soar, rush on', but later came to mean 'fall down or fall off, alight, descend'. In *pat* the short wowel *a* is dropped, voiceless unaspirate *p* has changed to voiceless spirant *f* and *ā* is an augment inserted defore dan to avoid the inconvenince of pronunciation.

17. *bārīdan* 'to rain'. *bīrī* in *bārīdan* has its cognate in Skt. √*vṛṣ* 'to rain'. Here *v* has changed to *b* and *ṛ* has changed to its *vṛddhi* from *ār*, *ṣ* is dropped, and *ī* is augmented for the sake of easiness in pronunciation.

18. *bāftan* 'to weave'. In Sanskrit we have the root √*ve* 'to weave, inter-weave, braid, plait'. Its causative from is *vāyayati*. Another form *vāpayati* is also possible, at least in common-man language, if not in the literary one, From Skt. √*vāp* the Persian *bāf* has developed. *v* has changed to *b* and voiceless, unaspirate *p* has changed to spirant *f*.

19. *barāmadan* 'to arise, come forth'. The infinitive *barāmadan* is a compound from of bar and *āmadan*. *bar* is a prefix and has the sense 'out, outside, over, up' and in Sanskrit we have its cognate in *para* which along with many allied senses, means 'far, distant, remote, opposite, ulterior, etc.. Here voiceless *p* of *para* has changed to voiced *b* and the final *a* has dropped. *āmadan* has already been dealt with at serial no.1.

20. *barāvaradan* 'to exalt, raise, bring up'. The prefix *bar* has been dealt with in *barāmadan* at serial. no. 19 and *āvaradan* at serial n.2

21. *bardāśtan* 'to exalt, lift up, tolerate'. Here the root *dā* had its cognate in Skt. √*dhā* 'to put, place, set lay in or on'. Voiced aspirate Skt. *dh* in √*dhā* has become voiced unaspirate *dā* in Persian. *ś* may ba an augmen . Or Persian *dāś* may be a cognate of Skt. √*dāś* 'to grant, give, bestow, offer'. Or it may be a cognate of the Skt. √das 'to become exhausted', where a has lengthened and the dental *s* has changed to palatal *ś*.

22. *bardan* 'to bear, to carry away'. *bar* is a cognate of Skt. √*bhar* <√*bhṛ* 'to bear, carry away'. Aspirate *bh* has changed to unaspirate b, *cf*. Gmc. **ber*, IE. **bher*.

23. *biriśtan* 'to parch'. The base *biriś* is a cognate of Skt. √*bhṛj* 'to fry, parch'. Here voiced aspirate *bh* of Skt. √*bhṛj* has changed to voiced unaspirate *b*, *ṛ* has changed to *ir*, voiced *j* has changed to voiceless *c*, and then palatal *c* has changed to palatal spirant *ś*.

24. *bastan* 'to shut, tie, bind'. The root seems to be related to Skt. √*bandh* > √*badh* 'to bind, tie, fasten'. Here the dental aspirate *dh* has changed to unaspirate *d*, *d* to voiceless *t* and *t* to spirant *s*.

25. būdan 'to be'. The root *bū* is the cognate of Skt. √*bhū* 'to be, become'. The labial voiced aspirate *bh* as changed to labial voiced unaspirate *b*.

26. *puxtan* 'to cook'. The root *pux* has its cognate in Skt. √*pac* 'to cook, bake, roast, boil'. Here a of √*pac* has changed to *u*, palatal voiceless unaspirate *c* has changed to guttural *k*, and this *k* has changed to spirant *x*.

27. *parastīdan* 'to adore, pray to, worship'. In the base *parast para* is a prefix in the place of Skt. *pra*. *stī* is a cognate of Skt. √*stu* 'to praise'. Here *u* has changed to *ī*..

28. *pursīdan* 'to ask, enquire'. The root *purs* has its cognae in Skt. √*prach* 'to ask'. An augment *u* has found its place between *p* and *r*. The palatal *ch* first changed to *ś* (as we see in Skt. *praśna*), and then *ś* changed to dental s. The sound *ī* is inserted as an augment for the convenience of pronunciation.

29. *parvardan/ parvānīdan* 'to nourish, feed'. Here par is a prefix and is a cognate of Skt. *pra*. √*vard* is equivalent to Skt. √*vardh* (<*vṛdh*)

'grow', *ṛ* has guṇated to *ar* and aspirate *dha* has changed to unaspirate *d*. This *d* has dropped before the *d* of *dan*. *parvānīdan* is an increased from of *parvardan*, where *a* of *va* has been lengthened to *ā*, *n* has replaced *r* and an *ī* has been added for pronunciation.

30. *parīdan* 'to fly'. Here *par*, a cognate of Skt. *patra* (= *pattra*) 'feather', may be a denominative verbal root. Here *t* of Skt. patra before *r* first changed to voiceless spirant, and then to voiced spirant þ and then elided. *a* is dropped and augment *ī* is insertedfor prounuciation. Or it may be a denominatime from *parṇa* 'feather' where *ṇa* has dropped and an *ī* has been inserted for the convenience of pronunciation.

31. *purīdan* 'to fill up'. The root *pur* is a cognate of Skt. √*pṛ* 'to fill'. Here Skt. *ṛ* has changed to *ur* in Persian (instead of ur, as it has changed in Skt. *pūrṇa*). *ī* has been inserted for the convenience of pronunciation.

32. *pośīdan* 'to put on, cover'. The root *poś* may be traced to Skt. √*puṣ* 'thrive, nourish, feed'. Here *u* of Skt. √*puṣ* has gunated to *o* and carebral *ṣ* is represented by palatal *ś* in Persian. *ī* is for pronunciation. The sense of the Persian root has travelled a long distance from that of Sanskrit.

33. *tāftan* 'to burn, inflame'. The root *tāf* is a cogate of Skt. √*tap* 'to heat'. Here in Persian the a of Skt. *tap* has been lengthened to *ā* and vouceless labial *p* has changed to voiceless fricative *f*. The senses 'to heat' and 'to burn, etc.' are closely related to one another.

34 *tapīdan* 'to palpitat, totter (तड़पना)'. Here the Persian *tap* 'to palpitate' is closely related to the Skt. *tap* 'to heat', because palpitation is the effect of the cause heat. *ī* is for pronunciation.

35. *tarāśīdan* 'to cut, scrape'. The root *tarāś* may be a cognate of Skt. √*takṣ* 'to cut, chisel, chop, fashion'. There must have been a parallel √*trakṣ* also in the colloquial speech, as we have a word *tarkhān* is *Punjābi* also. The Persian *tarāś* may be related to this *trakṣ*. In Persian *tarāś* an a has been inserted between t and r for the convenience of prounuciation. The short *a* after *r* has been lengthened to *ā* and *kṣ* has changed to *ś*. The senses of both the roots are closely related.

36. *trāvīdan* 'to exude, leak'. The root *tarāv* may have its cognate in Skt. √*tṛ* 'to cross' and may have some relation to tarala and taraṇga, which can be derived from *tṛ* 'to cross'. Here *ṛ* has guṇated to *ar* and *āvī* is inserted before *dan*.

37. *tarsīdan* 'to be afraid'. The root *tars* is closely related to Skt. root √*tras* 'to be terrified'. in form and sense. Here in Persian an *a* is inserted between *t* and *r* of Skt. *tras*. a between *r* and *s* has dropped. *ī* is added for the convenience of prounciation.

38. *tarkīdan* 'to doubt, suspect'. In Sanskrit we have √*tark* in the sense 'to conjecture, guess, suspect, infer'. Both the roots are closely related in from and meaning. *ī* in the Persian infinitive *tarkīdan* is for the convenience of prounuciation.

39. *taftan* 'to warm'. The root *taf* is directly relate to Skt.verbal root √*tap* 'to give out heat, be hot, shine (as the sun)'. Here the voicelss *p* has changed to fricative *f*.

40. *tafīdan* 'to warm, bask.' Like *taftan* the root *tāfīdan* also is a cognate of Skt. root √*tap*. The only difference is that here an *ī*, which is for the convenience of prounuciation, has inserted after *f*, due to which f of *tan* has changed to *d*.

41. *tanīdan* 'to stretch, twist, spin'. The root *tan* is a cognate of Skt. √*tan* 'to extend, spread, stretch'. Here *ī* has been inserted for the convenience of pronunciation.

42. *tavānistan* 'toi be able, have power'. *tavānis* is closely related to Skt. *tavas* (from verbal root √*tu*) 'to be strong, energetic' or rather to its Nominative singular base *tavīyāns.* Here *īy* has dropped, and an *i* has been inserted betwenn *n* and *s*,

43. *jastan* 'to jump'. The root *jas* is fully related in from to Skt. √*jas* 'to be exhausted'. There is certainly a relation between 'jumping' and 'being exhausted'. 'Jumping' is the cause and 'being exhausted' is its effect.

44. *justan* 'to seek, search'. In Sanskrit we have √*juṣ* 'to have pleasure, devote oneself to' which may be a cognate of Persian *jus*. Cerebral *ṣ* has changed to dental *s*. There is, however, a considerable difference between the senses of the roots.

45. *carbīdan* 'to overcome'. It may have a cognate in Skt. √*carv* 'to grind with teeth, masticate, chew'. In Persian *carb* the *v* of Skt. *carv* has changed to *b*. There is, however, a considerable difference between the senses of both the roots.

46. *carīdan* 'to graze'. The root *car* of Persian *carīdan* is a cognate of Skt. √*car* 'to move' go' walk'. But later Skt. √*car* is met with in the

sense 'to graze, eat' also, e.g., तिथिवृद्ध्या चरेत् पिण्डान् (Yaj.S.III. 323). चेरत् भक्षयेत् (*Mitākṣarā*). In the sense 'to graze', e.g., सुचिरं हि चरन् शस्यम् (*Hit.* III. 9). Hence the roots *car* in both the languages are identical in from and meaning.

47. *caśādan* 'totaste'. The root *caś* of Persian *caśīdan* has a cognate in the Skt. √*caṣ* 'to eat, drink' and its derivative *caṣaka* is used in the sense 'a cup'. We have the verb *cakhnā* 'to taste' in Hindi. Here in the Persian root the Skt. carebral *ṣ* has changed to palatal *ś*.

48. *cīdan* 'to gather'. *cī* in *cīdan* has its cognate in Skt. √*ci* 'to pile up, collect, gather'. The sound *i* of Skt. √ci has been lengthened in the Persian root *cī*.

49. *xārīdan* 'to itch, scratch'. Here *xār* has its cognate in Skt. √*kharj* 'to pain, make uneasy, itch'. The short *a* has been lengthened to *ā* and *j* has been dropped, though it is still retained in the derivative forms *khāriś*, etc. as *ś* (j>c>ś).

50. *xarāśīdan* 'to scratch'. This root also seems to be related to Skt. √*kharj* 'to pain, make uneasy, itch'. In *kharāś* ā is an augment and j has changed to *ś* through *c*.

51. *xarāmīdan* 'to walk gracefully'. *xarām* in *xarāmīdan* has its cognate in Skt. √*kram* / √*krām* 'to walk, to towards'. Here Skt. *k* has changed in Persian to fricative x. An augment a has been inserted between *x* and *r* and *ī* is added before *dan* for the convenience of pronunciation.

52. *xarośīdan* 'to make noise'. Here *xaroś* is genitically related to Skt. √*kruś* 'to cry out, shriek'. Here initial *k* has changed to spirant *x*, *u* is guṇated to *o*, an augment *a* has been inserted between *x* and *r* and *ī* is added before *dan* for pronunciation.

53. *xarīdan* 'to purchase'. *xarī* in Persian *xarīdan* has its cognate in Skt. *krī* 'to barter, buy, purchase'. Here an augment a has been inserted between *x* and *r* and the stop *k* has changed to fricative *x*.

54. *xazīdan* 'to rub'. The root *xazī* again may be related to Skt. root *kharj* 'to scratch, itch'. Through assimilation *rj* of *kharj* assimilated to *jj*, the first *j* dropped and the second *j* changed to *z*.*ī* before dan is added for pronunciation.

55. *xuftan* 'to sleep'. *khuf* is a cognate of Skt. √*svap* 'to sleep'. s of svap [or *ṣ* of *ṣvap*] changed to fricative *x*. *v* changed to *u* throught the

process of vocalisation (*Samprasāraṇa*) and a assimilated to *u* through *pūrvarūpa ekādeśa. p* changed to fricative *f.*

56 *xalīdan* 'to prick, pierce'. Here *xal* may be related to Skt. root √*kṣal* 'to wash', or to the root √*khal* 'to move or shake'. *kṣa* or *kh* have changed to fricative *x. ī* is for pronunciation. There is a considerable gap between the meanings of the roots of both the languages.

57. *xazīdan* 'to erode'. This root may be related to Skt. root √*kaṣ* 'to rub. injure, hurt' or *khaṣ* 'to hurt, injure'. *k* or *kh* has changed to spirant x, and the carebral s first changed to dental s and then this s changed to voiced *z*.

58. *xvābīdan* 'to sleep'. This is a denominatve verb from the noun *vxāb* 'sleep, dream', which has its cognate in Skt. word svapna from the root √*ṣvap* 'to *sleep*'. Here *ṣ* has changed to fricative x, a has lengthened to *ā* and voiceless stop *p* has changed to voiced b. *v* in *xv* is silent.

59. *xvāndan* 'to pronounce, utter, read'. The stem *xvān* has its cognate in Skt. √*svan* 'to sound'. s changed to spirant x and short a changed to long *ā*.

60. *xūrdan* 'to eat'. The root *xūrdan* is related to Skt. √*gṛ* 'to swallow'. Voiced g of √*gṛ* first changed to voiceless *k*. Then *k* changed to fricative *x. ṛ* changed to *ūr*. Thus *gṛ* changed to *xūr.*

61. *xūśīdan* 'tobe dry, be parched'. *xūś* or Persian *xūśīdan* has its cognate in Skt. √*śuṣ* 'to dry'. The palatal *ś* has changed to fricative *x* and cerebral *ṣ* has changed to palatal *ś*. Short u is lengthened to long *ū* and an *ī* is added in the end of *xūś* for pronunciation. The sense has changed from transitive to in transitive.

62. *dādan* 'to give'. *dā* of *dādan* in Persian is the same as √*dā* 'to give' in Sanskrit. The Skt. √*dā*, however, belongs to the reduplicating class.

63. *dāśtan* 'to put'. *dāś* of *dāśtan* has its cognate in Skt. √*dhā* 'to put'. Voiced aspirate *dh* has changed to voiced unaspirate *d*. The sound *ś* after *dā* may be an augment.

64. *darūdan* 'to cut, reap, mow'. *darū* of the infinitive *darūdan* is a cognate of Skt. √*dṛ* 'to burst, break asunder, split, tear, rend'. Here *ṛ*, which according to the law should have changd to *īr* or *ūr*, has exceptionally gunated to *ar*. The long *ū* before dan is for the sake of pronunciation. The senses of both the roots are closely related.

65. *darīdan* 'to tear'. Persian *darīdan* is also related to Skt. √*dṛ* as *darūdan* is. Here also √*dṛ* has changed to dar instead of *dūr*. Here the augment is *ī*, while in *drūdan* it is *ū*.

66. *damīdan* 'to blow, breathe'. *dam* in Persian root *damīdan* has its cognate is Skt. root √*dham* 'to blow'. In the *Ṛveda* (I. 85. 10) we read धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवः 'blowing their pipes the bountiful Maruts'. Here Skt. *dh* has changed to upaspirate *d*. *ī* is for prounuciation. In Persian *dam* means 'breath, power'.

67. *dośīdan* 'to milk'. *doś* of *dośīdan* is related to Skt. *dugh* (=*duh*) 'to milk'. Here aspirate *gh* changed to unaspirate *g*, voiced *g* changed to voiceless *k*, *k* changed to *c*, and palatl *c* changed to palatal *ś*. *u* gunated to *o*. The long *ī* after *doś* is for in convenience of pronunciation.

68. *davīdan* 'to run'. dav in Persian *devīdan* has its cognate in Skt. √*dhāv* 'to run'. Here aspirate *dh* has changed to un-aspirate *d* and the long *ā* is shortened to a. *ī* after *dav* is for the convenience of pronunciation.

69. *rāndan* 'to drive, shoot, benish'. *rān* in *rāndan* may be related to Skt. √*rādh* 'to make ready, prepare'. *dh* having changed to unaspirate *d* and then having dropped before *d* of *dan*, and *n* before *dan* being the remnant of *nu* (*śnu*) (विकरण, an insetrted conjugtional affix) we *get* the stem *rān*. The sense of the root has developed in a different direction.

70. *rabūdan* 'to seize, take away, carry off by force' *rabū* may be related to Skt. √*rabh* 'to take hold of, grasp, embrace'. *bh* has changed to unaspirate *b* and *ū* has been insertedafter *rab* for pronunciation. The senses of the roots are related.

71. *razīdan* 'to colour, *dye*, tinge'. *raz* in *razīdan* is a cognate of Skt. √*raj* 'to colour'. *j* has changed to *z*. *ī* is inserted after *raz* for pronunciation.

72. raftan 'to go'. *raf* in raftan is probably from Skt. *rap* 'to talk, chatter, whisper', where stop *p* has changed to friative *f*. Or it may be from the root rabh 'to take hold of, grasp, embrace', where voiced aspirate *bh* first changed to voiced *b*, *b* to voiceless *p* and then *p* changed to spirant *f*. But in both the cases meaning of the roots is a great challenge.

73. *ranjīdan* 'to be displeased'. The root *ranj* in *ranjīdan* is probably a cognate of Skt. √*ruj* 'to break, cause pain, injure'. The *u* of *ruj* has changed qualitatively to *a* and *a n* is inserted before *j*. *ī* is added after *ranj* for pronunciation.

74. *ruftan* 'to cleanse'. *ruf* of *ruftan* may be a cognate of Skt. √*rup* 'to violate, confound, disturb', where *p* has changed to spirant *f*. There seems to be a remote relation between the meanings of both the roots.

75. *roīdan* 'to grow, vegetate'. *ro* of *roīdan* can be related to √*ropi* (causative form of √*ruh*) 'to put in the ground, plant, sow'. Labial *p* of ropi first changed to labio-dental *v* and then dropped, and *i* is lengthened to *ī*.

76. *rextan* 'to scatter'. *rex* of the infinitive *rextan* is a cognate of Skt. √*riś* or √*riṣ* 'to injure, hurt, destroy, ruin'. Here *i* has guṇated to *e* and fricative *ṣ* has changed to fricative *x*. There is not much gap between the senses of the two roots.

77. *zādan* 'to give birth'. *zā* in *zādan* is equivalent of √*jā*, *a* substitue of Skt. √*jan* 'generate, to be born'. Skt. *j* has changed to *z* in Persian. The only difference between the meanings of both the roots is that the Persian root *zādan* is transitive, while The Skt. root √*jā* (√*jan*) is intransitive. *zāīdan* 'to give birth' is also a cognate of Skt. √*jā*, a synonym of √*jan*.

78. *zadan* 'to strike, beat'. *za* in *zadan* is a cognate of Skt. root *han* 'to strike, kill'. *h* of *han* has changed to *z* and *n* has dropped, but in Muzāra*å* (Present Stem) from zanad the n is retained. Senses of both the roots are in full agreement.

79. *zīstan* 'to live'. *zī* in *zīsan* is a cognate of Skt. √*jīv* 'to live'. Skt. *j* has changed to Persian *z*, and *v* before *t* of *tan* is replaced by *s*.

80. *sāxtan* 'to make'. *sāx* may have its cognate in Skt. √*śak* 'to be able, be competent for'. Here Skt. palatal *ś* has changed to dental *s*, *a* has lengthened to *ā* and *k* has changed to fricative *x* in Persian.

81. supurdan 'to trust, deliver'. supur in supurdan may be related to Skt. root √*spṛ* 'to release, extricate or deliver from'. An augment *u* is inserted between *s* and *p* for the convenience or pronunciation and *ṛ* is changed to *ur*.

82. *sipūxtan* 'to prick, pierce, bore'. *sipūx* in *sipūxtan* may have its cognate in Skt. root √*spṛś* 'to touch, handle, to touch so as to hurt, injure, harm'. An augment *i* is inserted between the sound *s* and *p* for the convenience of pronunciatin. *ṛ* has changed to *ur*, which has dropped its *r* and *ū* is lenghened to *ū*. *ś* has changed to spirant *x*. Senses of both the roots are related.

83. *sipūzīdan* 'to prick, pierce'. *sipūzīdan* is the same as *sipūxtan*,

with the difference that *ś* of Skt. √*spṛś* first changed to *s* and this *s* to voiced *z* before *ī* which is an augment.

84. *sitādan* 'to stand, carry'. Here *sitā* is a cognate of Skt. √*sthā* 'to stand', where an augment *i* has been inserted between *s* and *t* for the convenience of pronunciation and aspirate *th* has changed to unaspirate *t*.

85. *sitāndan* 'to seize, take'. *sitān* is probably related to Skt. *root* √*stai* 'to steal', which has a derivative *stena* 'thief'. Here and *i* has been inserted between *s* and *f* for prounuciation, *ai* has changed to *āy*. *y* of *āy* has dropped and *an* augment *n* has been inserted. The senses of both the roots are in agreement.

86. *sitāīdan* 'to praise'. Here *sitāī* is probably related to √*stāvi*-the causative stem of Skt. √*stu* 'to praise'. Here *an* augment *i* has been insertrd between *s* and *t* for the convenience of prounuciation, *v* has dropped and final *i* has been lengthened to *ī*.

87. *sitūdan* 'to praise'. This is related to the Skt. root √*stu* 'to praise', where *an* augment *i* has been inserted between *s* and *t* for the convenience of pronuncitaion and the final *u* of √*stu* is lengthened to *ū*.

88. *sarāīdan* 'to sing'. Here *sarāī* has its cognate in Skt. root √*svar* 'to utter a sound, find fault, blame, censure'. Here in the base (अङ्गम्) *svaraya v* has dropped, short *a* after *r* has lengthened to *ā* and *ya* has changed to long *ī*.

89. *saraśtan* 'to string together, mix, make'. the root *saraś* has its cognate in Skt. √*sṛj* 'to emit, release, twist, wind'. *ṛ* of *sṛj* has guṇated to *ar*. *j* first changed to voiceless *c*, then *c* to spirant *ś*. An augment a has been inserted between *r* and *ś*.

90. *soxtan* 'to burn, light'. sox in soxtan has its cognate in Skt. √*śuc* 'to beam, shine, suffer voilent heat or pain, burn'. Here palatal *ś* changed to dental *s*, *u* guṇated to *o* and *c* first changed to *k* and then *k* changed to fricative *x*.

91. *sūdan* 'to rub, wear'. *sū* in *sūdan* has probably a cognate in Skt. *sū* 'to urge, impel' or *sū* 'to beget, procreate'. There is no agreement in the senses of the roors.

92. *śudan* 'to go, become'. *śu* in *śudan* is a cognate of Skt. √*śū* or √*śav* 'to go' (*śavatir gatikarmā-Nir*. II. 2).

93. *śumardan* 'to reckon, count'. *śumar* may be a cognate of Skt. √*smṛ* 'to remember'. Here dental *s* changed to palatal *ś*, an augment *u* has

inserted between *s* and *m*, and *ṛ* is guṇated to *ar*.

94. *śunūdan* 'to hear'. *śunū* in *śunūdan* has its cognate in Skt. √*śru* 'to hear'. *r* of *śru* has dropped, and the conjugatinal infix (*vikaraṇa*) *nu* (=*śnu*), which Skt. √*śru* takes, is retained in Persian *śunū* also. The *u* of *nu* has lengthened to *ū*. There is a complete agreement between the senses of the two.

95. *śunīdan* 'to hear, smell'. Both the roots *śunūdan* and *śunīdan* are one and the same with the only difference that the former takes *ū* while the latter take *ī* for pronunciation.

96. *fatādan* 'to fall' is equivalent to *uftādan/ ūftādan* (cf. s. no. 16). In *uftādan / ūftādan* a prothsis uor *ū* has developed before the conjunct ft to avoid the inconvenience of pronunciation, while in *fatādan* an augment a has inserted between *f* and *t* of the conjunct *ft* for the sa me purpose.

97. *firastādan* 'to send' is the cognate of Skt. *pra*√*sthā*, to send'. In *firastā* fira is actually the prefix *fra*, the cognate of Skt. *pra*, where augment *i* has been infixed between *f* and *r* to avoid the inconvenience of pronunciation. *stā* is the cognate of Skt. √*sthā*, where aspirate *th* has changed to unaspirate *t*. Sense of the two roots is the same in both the languages.

98. *farsūdan* 'to rub, erase, obliterate'. far is a prefix which has Skt. *pra* as its cognate. In *farsūdan p* has changed to fricative *f*, *an* augment a has inserted between *f* and *r* and final a is dropped. *sū* is a cognate of Skt. √*śo* 'to whet, sharpen'. *śo* has changed to *sū*.

99 *farkandan* 'to dig, destroy'. *far* in *farkandan* has its cognate in Skt. *pra*, where *p* being in conjunct has changed to spirant *f*, an augment a has insertd between *f* and *r* to avoid the inconvenience in pronunciation and final a has dropped. *kan* in kandan has its cognate in Skt. √*khan* 'to dig'. Here aspirate *kh* has changed to unaspirate *k*. Prefix *fra* when added to *kand* had made no difference in the mieaning.

100. *farmūdan* 'to command, order'. Here also *far* is a prefix which has its cognate in skt. *pra*. Here *p* has changed to fricative *f*, an augment a has been inserted between *f* and *r* and the final a has dropped. *mū* has its cognate in Skt. √*mū* 'to bind', tie, fix'. There may be a distant relation between the senses of both the roots.

101. *faroxtan* 'to bid, sell'. The finitieve from *faroxtan* may be analysed as *fara* + *ux* + *tan*. Here *fara* has its cognate in Skt. *pra* where

p has changed to spirant *f* and *an* augment a has inserted between *f* and *r*. *ux* is a cognate of Skt. √*uk*(= √*vac* 'to speak')., where *k* has changed to spirant *x*.

froxtan and *afroxtan* are one and the same. The only difference is, that in the former an a has been inserted between *f* and *r*, and in the latter a prothesis a has been prefixed before *fr* to avoid the inconvenience in pronunciatin. There is, however, some differene of meaning. While the former means 'to bid, sell', the latter means 'to illustrate, inflame'.

102. *kāstan* 'to reduce, be reduced'. *kās* in *kāstan* may be related to Skt. √*kṛś* 'to be lean' where *ṛ* took its *vṛddhi* from *ār* and *ś* changed to *s*. The sound *r* before *s* has dropped.

103. *kāśtan* 'to sow'. *kāś* in *kāśtan* is a cognate of Skt. √*kṛṣ* 'to plough'. Here also *ṛ* changed to *ār* and cerebral *ṣ* changed to palatal *ś*. *r* dropped before *ś*. The act of plouging and sowing are related to each other.

104. *kāftan* 'to dig'. *kāf* in *kāftan* is a cognate of Skt. √*klṛp* 'to be well ordered, trim, cut'. Here *ḷ* has taken its *vṛddhi* form *āl* and *p* has changed to fricative *f*. *I* before *f*. *I* before *f* has dropped. In *Panjābi kappaṇā* is used in the sense 'to cut'. The senses 'to cut' and 'to dig' are mutually related to a great extent.

105. *kardan* 'to do'. *kar* in *kardan* is a cognate of Sk. √*kṛ* 'to do'. Here *ṛ* has taken its guṇated form *ar*. There is a full agreement between the senses of both the roots here.

106. *kuśtan* 'to kill'. *kuś* in *kuśtan* is a cognate of Skt. √*kuṣ* 'to tear asunder, pinch'. Here cerebral *ṣ* has changed to palatal *ś*. The senses of both the roots are in agreement toa great extent.

107. *kiśtan* 'to sow'. *kiś* in *kiśtan* is a cognate of Skt. √*kṛṣ* 'to plough'. Here *ṛ* changed to *ir* and cerebral *ṣ* changed to palatal *ś*. *r* has dropped before *ś*.

108. *kaśīdan* 'to draw, pull, attract'. *kaś* in *kaśīdan* is a cognate of Skt. root √*kṛṣ* 'to draw, attract', from which the name *kṛṣṇa* 'attractive' has been derived. In *kṛṣ ṛ* changed to *ar* and cerebral *ṣ* changed to palatal *ś*. *r* before *ś* has dropped. The augment *ī* is for pronunciation.

109. *kandan* 'to dig'. *kandan* has been dealt with *farkandan* at s.n. 99.

110. *kandīdan* 'to dig'. *kandīdan* is a larger form of *kandan*, where

d is added to *kan* and *an* augment *ī* is inserted before *danfor* prounuciation.

111. *koftan* 'to bruise, smite, smash'. *kof* in *koftan* may be a cognate of Skt. root √*kup* 'to be angry'. *u* has guṇated to *o* and *p* has changed to fricative *f*. The senses of the two roots are mutually related as they are cause and effect.

112. *gardīdan* 'to move around, wander'. *gard* in *gardīdan* has its cognate in Skt. √*gṛdh* 'to be gredy'. The root √*gṛdh* is related to the word *gṛdhra* 'vulture'. In Persian *gard ṛ* of Skt. *gṛdh* took its guṇated from *ar* and aspirate *dh* changed to unaspirate *d*. *gard* actually may have been used for the movement of the neck (*gardan*) and eyes of a vulture, or its flying round and round in the sky, in search of carcases.

113. *gariftan* 'to catch, to take hold of'. *garif* in *gariftan* has its cognate in Skt. *gṛbh* (=*gṛh*) 'to seize'. *ṛ* took its guṇated form *ar*, aspirate *bh* changed to unaspirate *b*, voiced *b* changed to voiceless *p* and then *p* changed tospirant f. An augment *i* is intercepted between *r* and *f* to avoid inconvenience in pronunciation. Thus we take Persian *garif* in the place of Skt. √*gṛbh*.

114. *guftan* 'to speak'. *guf* of *guftan* may have its cognate in Skt. √*gup* 'to defend, protect'. Here *p* has changed to fricative *f*. There is a big *gap* between the senses of the two roots.

115. *gavārīdan* 'to devour'. *gavār* in *gavārīdan* seems to be related to Skt. root √*gṛ* 'to swallow, devour, eat'. *ṛ* has taken its *vṛddhi* form *ār*. The augment of *av* between *g* and *ā* in the construction of the form *gavār* is inexplicable.

116. *gẖarīdan* 'to thunder, roar'. *gẖar* in *gẖarīdan* may have its cognate in Skt. √*garj* 'roar, thunder, growl'. Here *g* has changed to spirant *gẖ* and *j* has dropped. In *gẖarīdan ī* is for pronunciation.

117. *lāfīdan* 'to prattle'. *lāf* in *lāfīdan* has its cognate in Skt. √*lap* 'to prate, chatter, talk'. Here short a has lengthened to *ā*. *p* has changed to spirant *f*. *ī* in *lāfādan* is for pronunciation.

118. *labsīdan* 'to lick'. labs in *labsīdan* may be related to *lapsikā,* which occurs in the midicinal treatise the *Bhāva-prakāśa* in the sense 'a kind of prepared food', labs may be a cognate of Skt. root √*lap* 'to prate, chatter, talk'. *s* may be *an* augment. Or *lap-lap* or *laps-laps* is a sound which is produced between the two lips while eating *lapsī* (a prepared food). One the other way round, the word *lapsī* may be a borrowal in

Sanskrit from Persian.

119. *mālīdan* 'to rub, smash, crush'. *māl* in *mālīdan* has its cognate in Skt. root √*mṛd* 'crush, pound, smash'. *ṛ* of √*mṛd* has taken its *vṛddhi* form *ār* and *r* has changed to *I*. The Persian word *mālīdah 'cūrī'* (in Hindi) has been borrowed in some modern Indian languages also.

120. *mānistan* 'to resemble'. *mān* in *mānistan* is related to Skt. √*mā* 'to measure, compare with'. The Persian *mān* is related to Skt. *mān* (= *upamāna*). The insertion of *is* may be for pronunciation.

121. *murdan* 'to die'. *mur* in *murdan* has its cognate in Skt. √*mṛ* 'to die'. Here *ṛ* of √*mṛ* has changed to *urbefore dan*, instead of being guṇated to ar.

122. *nāmīdan* 'to give name', *nām* is a denominative verb in Persian from the noun *nām* 'name'. In Sanskrit for the sense 'to give name' the phrase *'nāma*√*kṛ*' is used.

123. *nabiśtan* 'to write'. *nabiś* in *nabiśtan* is related to Skt. *niv*√*iś* (caus.) 'to draw, paint, portray, write down'. Here *na* is for the prefix *ni* and *v* has changed to *b*.

124. *naśiśtan* 'to sit'. *na* in *naśiś* of naśiśtan is a prefix equivalent to Skt. prefix *ni*. *śiś* is a reduplicated form equivalent to *sasad* (<sadsad) of Sanskrit root √*sad* 'to sit' and which has been reduced to *śiś* after *a* having changed to *i*, ad having dropped and both the *ss* having changed to palatal *śs*.

125. *naviśtan* 'to wrap, write'. There is no difference between *naviśtan* and *nabiśtan* except that *v* of *naviśtan* has changed to *b* in *nabiśtan*.

126. *nihādan* 'to place'. *nihā* in *nihādan* is related to Skt. *ni*√*dhā* 'to put, put into, place, preserve', where *ni* is a prefix and *dhā* has changed to *hā*.

127 *nihaftan* 'to keep secret'. *nihaf* in *nihaftan* is related to Skt. *ni*√*dhāpi*, the causative of *ni*√*dhā*, where *dhā* has changed to *hā*, *p* to spirant *f*, *i* is dropped and long *ā* has shortened to *a*.

128. *vazīdan* 'to blow'. *vaz* in *vazīdan* seems to be related to Skt. *vāt* 'wind' from the root √*vā* 'to blow'. Therefore *vāz* may be a denominative from √*vāt* 'wind', where long *ā* has shortened to *a*, *t* changed to *d* and then *d* changed to spirant þ.

129. *yāftan* 'to obtain'. *yāf* in *yāfatan* is related to Skt. *vi*√*āp* (=*vyāp*), where *v* has dropped and stop *p* has changed to fricative *f*.

From the above discussion it is quite evident that Persian and Sankrit being sister languages, there is a great affinity between verbal roots of the both. But while the Persian grammarians in the name of verbal root have the prepostion, root, vikaraṇa and suffix all clubbed into one, the Sanskrit linguists have made a clear distinction among *prakṛti* (root), *pratyaya* (suffix), *upasarga* (preposition), *vikaraṇa*, *āgama* (infix), and their substitutes.

✦✦✦

The Journey of Vedic Words through the Ages in Indo-Iranian Regions

-R.C. Bhardwaj

H.O.D., Sanskrit Deptt., Delhi University

In order to highlight the socio-cultural and religious affinity, I take Soma-yajña as sample case from Vedic religion. The Soma Sacrifice (Soma-yajña) is well known as an Agnistoma. A similar ritual exists in the Avestan religion popularly known as Haoma (Soma) ritual, which expresses the same conception as in the Veda. In the words of Prof. Kanga (Avesta Reader, p. iv) "The Avestan Haoma is exactly identical with Vedic Soma and both refer to the sacred drink prepared from a special plant and partaken as a part of the Yasna ritual. Haoma plays an important part of the Zoroastrian liturgy. Haoma is primarily a holy plant from which the drink is squeezed out during the Yasna ritual and at the same time yazata is presiding over this plant." Three chapters of the Yasna text viz. Has 9-11 are dedicated to Haoma as stated above. Similarly more than 120 hymns are devoted to Soma in the Ṛgveda. A comparison between the two traditions signifies:

1. A twofold conception of the Soma (Haoma) - Firstly as the name of the plant used in the sacrificial ritual, and; Secondly, as the name of Divinity (Devata);
2. Vedic Soma-Yajna is identical with Zoroastrian Haoma-Yasna as both refer to the sacred drink being prepared from a specific plant and partaken as a part of the ritual;
3. At the same time, Soma-Haoma is also the sovereign lord of all plants;
4. Both Schools of thought claim that this drink came directly from heaven. In the Veda it is mentioned as being carried by heavenly eagle (Syena) and in the Avesta by a bird (Bloomfield. M, 'The Religion of the Veda', p. 146), and;

5. According to both literature, the sacred drink has divine qualities and helps slay demons.

A close look at the explanation of Soma-Yajna makes it explicit that similar Vedic words and concepts are also present in Avestan religion, though the language, the accent and meaning are different. For example:-

1. **सवन**- AV (Avesta). Havani, lit. the time of the Haoma-Sacrifice, morning; It is derived from havana-sb. nt. Skt. सवन- act of pressing the Haoma-juice; वना–सूयते सोम एष्विति सवनानि (Ṛveda (RV) सा- i-4-2)- the act of pressing out the Soma-juice performed at the three periods of the day; tri-savana; Prātah -Mādhyama dina and tritiya (MW, 1190)

In AV hāvani (Hā ix-1) the time of Haoma-Sacrifice, morning. Both of the words are derived from √hu (√Su Skt.) to pound or to press repeatedly.

2. **बबृहाणः–** AV-Bərəzant

Aksasukta informs that Soma plant grows on Mujavat mountain and Avesta states that it grows on the highest summit of Mount Hara Berezaiti, the modern Alburz mountain. In this case the name of mountain differs. Now if we revisit ix-5-80.10 of Ṛgveda- अप्सु द्रप्सं वावृधानं, we find a term ववृधानं means वर्धमानं = growing. In Ṛgveda it is often stated that Soma (गिरिष्ठां=सायण–गिरावुन्नते देशो xxx वर्धमानम्) grows on the highest summit of the mountains. I think in Avestan the word Berezaiti is an Apabhraüsa version of ववृधान or बबृहाण because Avestan Scholars also define this word from root Bərəz (Yasna 10-2-3)

In explanation of 'श्रृणोतु न ऊर्जां ... परि स्रुचो बबृहाणस्याद्रेः। RV v.40.12 Sāyaṇa says बबृहाणस्य वर्धमानस्य (to be thick or grow great) Ṛgvedic word. बबृहाण is derived from √बृह = to grow (बृंहति). In Avesta there is root bərəz = to grow (Bərəzant = Loftly, high (adj.) berez = to grow). This same word changed to the word Buland in Pehlavi, Persian and modern Urdu with minor changes in sound.

3. Hari AV ज़इरि = Yellow, golden

Hari is the most common of the color epithets of Soma in the RV; and it is cognate with hiranya (golden) in Skt. Avesta also indicates the same idea by the use of word Zairi which means yellow, gold colored, greenish epithet of haoma (soma) and Hiranya as Zaranya. As per RV

9.65.8 Soma is Hari varna (यस्य वर्ण मधुश्चतुं हरिं) the same idea is also found in AV as Zairi-gaona. In later times 'hari' included green among its meaning (not to be Ṛgvedic). In khotanian language the derivation of the same word 'Ysaruna - renders Skt. 'harita (green or greenish yellow) and golden is well-attested Ysaraguna translation. Suvarṇa- varṇa. Parthian language 'Zrgwng and Manichaean and Mper (Modern Persian) hwzrgwn used as an adjective for Juniper tree.

We find following version of the same word in Indo-European languages:

Greek - xolos (gall) and xloros (yellow), Sogdian-zrywn English - gall and Yellow, Pah. - zarren, MPer. - hwzigwn. NPer. - zard = yellow and zarrin = golden and Urdu Zari (golden embroidery)

4. दुरोष

Vedic-Durosa occurs three times in the Ṛgveda:-

1. Durosah दुरोषाः RV iv.21.6 - दुरोषाः दुस्तरक्रोधः यः इन्द्रः (Sāyaṇa)

2. Duroṣaso दुरोषासो RV viii.1.13 B. दुरोषासः ओषितुम् अन्यैर्दग्धुमशक्या दुर्येषु गृहेषु निवसन्तो वा वयम (Sāyaṇa)

3. Durosam दुरोषम् RV ix.101.C. दुरोषम्। रोषतेर्हिंसार्थस्य रेफे लोपे दीर्घाभावः ओषतेर्दाहार्थस्य वा खलि रूपमिति संदेहादनवग्रहः। तं दुर्दहं दुर्वधं वा। (Sāyaṇa)

According to Sāyaṇa there can be four different etymological meaning of the term: angry, warding off burn by others, dung houses, and warding off death. We can also explain this compound word as dura दूर (far) + उष.

उष root is used in √उष दाहे, भ्वादि ओषति -Vedic उषनत् RV ii-4-7 to burn, us - early morning उषम् तिस्रः f. pl. - morning, Midday and evening RV viii-41-3 and √ऊष रुजायाम्, भ्वादि–ऊषति breaking, fracture to be sink or ill ऊषति ऊषांचकार

In Avesta also this is a compound word dura दूर (far) + aosa अओष. Avestan scholars explain this as follows:-

1. √us to shine (Dura+) after spreading radiance (Bartheloma, Hb. air D)

2. √us to be weak (Dura+) warding off sickness (K.F. kanga, Av. Dict.)

3. uks death from (Dura+) warding off death (wolff.)

In Pahalvi it takes same version and meaning as duros and in Persian Dura means death.

5. नम-उक्तिं (homage, veneration)

भूयिष्ठां ते नम-उक्तिं विधेम RV i.189.1

In Sanskrit Namas नमस् (नमति, नमन). In Avesta word with same sense is nemo both derived from root √nam - to bow, pray etc. But when we find it in developed form in Pahalavi - nimac निमाच which may be a compound word as नम-वच and this same term is used in Urdu as Namaz नमाज़

6. क्षयत्

In RV this word is used three times as follows:-

1. एवेदिन्द्रः सुते अस्ताव सोये भरद्वाजेषु क्षयद् इत मघोनः। i. 23.10 सायण- क्षयत् ईश्वरः

2. यज्ञैर्य इन्द्र दधते दुवांसि क्षयत् स राय ऋतपा ऋतेजाः vii-20-6 सायण-स इन्द्रः राये धनाय क्षयत् निवसति। भवेदित्यर्थः।

3. क्षयत् रयीणाम्-ततः स रथः रयीणां धनानां धनानि क्षयत् शत्रुभ्यः आगमयत्। क्षि निवासगत्योः। अस्मादन्तर्णीतण्यर्थाल्लेट्यडागमः। यद्वा क्षयतिरैश्वर्यकर्मा। धनानामीष्टे। सायण- x.106.73;

In Avesta similar word is ksāetā क्षाएता shining, brilliant - which is derived from root xsi=to shine. Avestan scholars define it as follows:-

1. Berth. (Air. wb. 541) - 'strahlend' (Shining, radiant)

2. Geld. - 'machtig' (Powerful, mighty)

3. Lommel - 'konig' (king)

4. Henning (Mitteliranische Manichaica aus chinesisch. Turkestan 1.187 4.6) - 'Herr' (Master, lord, Majestic) (The Avestan Hymn to Mithra p. 331)

5. Tarporewala - 'Ruler' Comparing with old Persian 'xsayathiya' found in the Cuneiform Inscriptions. pr. p. usayat=to possess, rule, govern, be master of (gen.) compare with Greek 'Ktaopai' 'Ksayad-vira' ruling

or governing men

This word carries the same meaning in following languages as:-

Sogdian	-	'xsyo'=lord
Later Iranian	-	Xsoithni
Armenian	-	asxen

Oss. Aexsin = Lady

7. यम

We also have some Vedic names which will help us in understanding our socio-cultural history. Firstly, Yama:-In the 10th Manala of RV we find the reference of Yama with Varuṇa, Bṛhspati, Agni etc. (x-14-17-, 13-4, 21-5) as mortal and son of Vivasvan - Vaivasvata. Etymologically Yama means twin.

In the Avesta Vivanhvant is the first mortal who pressed the drink of haoma on behalf of the corporeal world. His son Yima and his descendants continued to do so. Yima became the king of a golden age, in which there was neither old age nor death. Yima is described in the Avesta as 'Yima ksaeta' - ruler yima. In later times he becomes the leading Epic hero of Persian history as Persian Epic Shah Namah records him as Diemshed (Jamashed).

This matter, with comparative view is recorded by Prof. G. C. Tripathi in his book (वैदिक देवता–उद्भव और विकास p. 118-224 and 610). Therefore, there is no point in repeating that. But here I am concerned with some points which will enable us to know some part of this history.

According to Bloomfield- ''the final outcome of these mythic entanglements are two progenitors of the human race: Yama the son of Vivasvant, and Manu the son of Vivasvant. They remind us in a way of Adam and Noah, especially as Manu is the hero of the Hindu flood legend, which is astonishingly like the account of the book of Genesis. Vivasvant and his double progeny all of them are endowed for a good while with purely human qualities. Accordingly, as the profane or sacred interest preponderates these first, and, of course, great men become kings or great sacrificers of yore. Manu is the typical first sacrificer. The later sacrificer of the time of the Veda, as he performs on his sacrificial place, fancies himself a Man, doing like Manu (manusvat), in the house of Manu." (p. 143). According to this hypothesis, before separation of Indo-Iranians, it

was believed that Yama was the first king, and after separation, Indian tradition described Manu as the first king, and Yama was described as god of death or justice etc. But at the same time Iranian tradition carried out the original theme of Yima.

In this context Bloomfield also gives a great idea (p. 140) "Now the Veda discloses, and all Hindu tradition harps upon, a father of the human race by the name of Manu, or Manush Pitar, "Father Manu." The word *manu* is nothing else than our own world "man": there is good reason to believe that this "original man" was set up as a kind of Adam or Noah in Indo-European times".

8. त्रित and त्रैतन

In the RV two proper names त्रित and त्रैतन occurs only once (i-158-5)

"न मा॑ गरन्नद्यो॑ मा॒तृत॑मा दा॒सा यदी॒ं सुस॑मुब्धम॒वाधु॑ः।
शिरो॒ यद॑स्य त्रै॒तनो॒ वि॒तक्ष॑त्स्व॒यं दास उरो॒ अंसा॒वपि॑ रध॥"

where he is said to have been ordered by the old Dirghatama's wife to behead him.

And Trita name is frequently found with the surname Aptya.

Here Avesta refers both proper names with Athwya surname. This Vedic Aptya (Apam Putra) and AV Athwya is known in Avestan literature as 'poura-gaw' whose wealth is in the form of many cows. According to vend xx.2. Thrita (Trita) of the Sama family was the first physician (xxxYasna-9-10).

In the Avesta (Yt. v. 34 and xvii. 34) instead of cows Thraetaono थ्रअेतओनो delivers to wives Arenavac and Sanhavac. According to Prof. M.F. Kanga in existing Zoroastrian observance-"It is who, as king Fredon is turned to for help, through prayers and amulets to ward off sickness or to cure fevers and illness. In this way a double role was attributed to Traietaona, here in this text, who was widely calibrated as hero and physician. Traietaona was celebrated in Iran not only for a marvellous and miraculous art of healing but also for performing two heroic feats. One is the defeating and overpowering of Azi Dahaka (Skt. Ahi-Dāhaka), whom he chained and bound with fetters, to live alive captive until the end of the world. The other marvellous feat attributed to Traitaona थ्रअेतओनो relates of one paurva, the experienced boatman, whom he flung high up

in the air so fiercely that he sped across the sky for three days and three nights, but he could not descend, until Arəd्vi Sura Anahita heard his prayers and saved him. Vide Aban Yt. paras 61-65".

In Vedic episode, Traitana of the Āptya family conquered a three - headed monster and was the deliverer of the cows, though later on, this episode has been transferred to Indra (Rv. 10-10-8)

Sāyaṇa- आप्त्यः आप्त्यास्य पुत्रोऽपां पुत्रो वा। स त्रितः पित्र्याणि स्तपितृसंबन्धीनि आयुधानि विद्वान् जानन् इन्द्रेषितः त्रिशिरसा मया सह xxx त्रितः त्वाष्ट्रस्य ममापि गाः पशून् xxx अपहृतवान् इत्यर्थः।

MPer. Freton

Sah Nama- Faridun, the son of Abtin.

Note- AV. Āthwya the father of Thrataono is known in Avestan literature as 'poura-go (Skt. पुरू गौः)=whose wealth is in the form of many cows.

9. प्राशु

न नूनं ब्रह्मणामृणं प्राशूनामस्ति सुन्वताम्।

न सोमो अप्रता पपे॥ (RV. viii-32-16)

Prāśu (प्र+आशु)=very quick or speedy, RV. (=क्षिप्र-Naigh. i-15)

According to Sāyaṇa- प्राशुनाम्। ये सोमं प्राश्नुवन्ति ते प्राशवः who drink Soma quickly or swiftly.

In Avesta we find an equivalent word is Frasa फ्रष (adv.) = forward, forth, in front.

Prāśu's opposite AV. word is 'apasa' (backwards) and Vedic prasu's apposite word is 'aprata' the poor who cannot afford to have a soma drink.

(Sāyaṇa. अप्रता अविस्तीर्णधनेन सोमः न पपे न पीयते। प्रभूतधनेनैव सोमः पीयते इत्यर्थः RV viii-32-16)

The same word appears in various languages as-

Pah. - frac

Greek - prosa and

Lat. - porro

10. संगमनम्

We take two examples of this word which occur in RV.

1. वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य (RV X-14-1)

According to सायण–संगमनं गन्तव्यस्थानरूपम्।

2. 'रामो बुध्नः संगमनो वसूनां' संगमनः (x.139.3) सायण–संगमनः संगममिता प्रापयिता ईदृशः सविता।

So the word saügamana is composed of Sam (together) + gama (to go) + ana suff.

In Avesta equivalent word is Hanjamana (common noun) हँजमन (Yasna 11-2) = in the meeting or assembly han (together) + jam or gam (to go)+ ana (suff.)

Prof. Kanga says 'hanjamana' is an Ahura [Iranian] word, the corresponding Daeva (Indian) word is 'handvarena'. Shall we call it as संवद्ध्वम् or संगच्छध्वम्. This word Hanjamana in Pahalavi tongue becomes hanjaman and today through Persian it florished in Urdu as Anjuman.

11. घर्म Av. garəmə̊m गरॅमॅम्– nom. sg. nt of garəma - (i) adj. hot, warm (ii) noun. 'heat

In RV this word 'gharma' denotes the meaning of hot, warm and a specific utensil:

(1) घर्मं प्रवर्ग्याख्यकर्मोपयुक्तं महावीरपात्रं स्वपयः प्रदानद्वारेण न तपन्ति (सा. iii-53-14)

(2) घर्मं दीप्तं दहन्तमग्निमसुरः (सा. v-73-6)

(3) घर्मं प्रदीप्तं यज्ञम् (सा. v-76-1)

(4) धर्मः प्रवर्ग्यः 'यद्घ्रां इत्यपतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम् (तै. आ. 5–1–5) xxx घर्मो ग्रीष्मः अवर्षणजनितः सस्यशोषः (सा. i-164-26)

This Skt. word after travelling through various regions is present as garama (hot) in Indo-Iranian languages. But its Greek form 'thermos' carry the same sense of RV as Thermos flask (a type of stoppered vaccum flask used to preserve the temperature of its contents).

In this monograph of the journey of words I have tried my best to follow the words of Acharya Vishva Bandhu [Vishva Bandhu, A Comparative and Etymological Dictionary of Vedic Interpretation (A

Specimen), Preface, p. x, V. V. R. I., 1965] as he said *"every Vedic vocable, while it is being interpreted, strictly, in accordance with its context and on the basis of the aforesaid canons, can therefore be and has to be passed, like a **MIA** or **NIA** vocable, through its preceding regularly reconstructable stages towards, interrelating it with its cognates at the all-time Indo-Aryan, Indo-Iranian and Indo-European levels towards getting at its original conceptual soul as well as its proto phonetic etymon. So, a Vedic etymologist, to be true to his grain, could not arbitrarily set up any midway station and contend himself with just a random scattering of a few cognates from here and there, but must pursue his objective, ad ultimo, casting his net as wide and exhaustively deep as he could in the entire related linguistic field, including its pre-history."*

Through the above stated matter we may conclude by saying that the Avestan language, of the Indo-Germanic family of tongues, is such that large part of the vocabulary is identical. Through this, we can establish the developmental relation of Vedic Sanskrit with the Pahalavi, Persian (of all stages viz-oldmodern etc.), Central Asian tongues and to some extent European languages, because, knowledge of Avestan language and culture is the first step in this direction. Therefore, it is essential that the Avestan literature should be studied side by side with the Vedic literature for proper understanding of the Socio-linguistic and Socio-cultural history of the ages. In 19th and 20th centuries, devoted scholars in large number have contributed in this direction. Now in 21st century, for further researches, we must take serious note of this essential need of adaptation in current methodological-capitals. This multi-conceptual character study will mirror out the soul of the gradual growth of civilization and culture of our ancestors.

Bibliography

Text

- अवेस्ता, भाग-1 (यस्न तथा विस्पेरेद) सम्पादक एम.एफ. कांगा एवं सोनेटेक एन.ए., वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1962

  भाग-2 (खुर्देह अवेस्ता एवं यशत), 1962

  भाग-3 (वेन्दिदाद एवं फर्गर्द), 1978
- ऋग्वेद, सायणभाष्यसहितम्, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1946

- छान्दोग्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1965
- बृहद्संहिता, के.वी. शर्मा (सम्पा.) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली
- Avesta, The sacred books of the Parsis, edited by Karl F. Geldner, Stuttgart, 1885-1896
- Bundahishn, Edited by T.D. and B.T. Anklesaria, Bombay, 1908
- Shahname, Transl. by A.G. and E. Warner, Vols VI-IX, London, 1912-1925

Secondary Books

- भारद्वाज, रमेश चन्द्र (सम्पा.), कातन्त्रधातुवृत्तिसार, विद्यानिधि प्रकाशन, 2008
- त्रिपाठी, गयाचरण, वैदिक देवता उद्भव एवं विकास, दिल्ली
- Bartholomar, Christian, Altiranisches Worterbuch, Reissued, Berlin, 1960
- Bloomfield, Religion of the Veda, Delhi, 1972
- Boyce, Encyclopaedia Iranica
- Chatterji, J.M., The hymns of Atharvan Zarathushtra, the Parsi Zoroastrian Association, Calcutta, 1967
- Darmesteter, J., Zend-Avesta Ii, Sirozahs, Yasts and Nyayis, Sacred book of the east, Vol. 23, MLBD, 1988
- Gershevitch, Ilya, The Avestan Hymn to Mithra, Cambridge University Press, 2007
- Gonda, J., Some observations on the relation between 'Gods' and 'Power' in the Veda, Netherland, 1957
- Herzfeld, Ernst, Altpersische Inschriften, 1938
- Jackson, A.V. Williams, Avesta Grammer and Reader, Asatir, Tehran, 2004
- Justi, Iranisches Namenbuch, Marburgy 1895
- Kanga, M.F. (edi.), Avesta Reader, Vaidika Samsodhana Mandala, Pune, 1988
- Keith, A.B., The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads, Delhi, 1970
- Kuiper, F.B.J., On Zarathustra's Language, Amsterdam and New York, 1978

- Lommel, H., Die Religion Zarathushtras nach dem Avesta dargestellt, Tubingen
- Spiengel, Commentar uber das Avesta I
- Taraporewala, J.S. The Divine Songs of Zarashushtra, Bombay, 1951
- Wikander, Der Arische Mannerbund, University of Lund, 1938

Dictionary

- Cheung, Johny, Etymological Dictionary of the Iranian Verb, Brill, Boston, 2007
- Kanga, Kavasji Edalji, English-Avesta Dictionary, Bombay, 1909
- Monier-Williams, M., Sanskrit-English Dictionary, Oxford, 1956, Reprinted, New Delhi, 1988
- Vishva Bandhu, A Comparative and Etymology Dictionary of Vedic Interpretation, 1965

✦✦✦

Vedic *Prajā*-System for the Transformational Leadership in Modern Times

Dr. Aparna (Dhir) Khandelwal* &
Prof. Bal Ram Singh**

*Assistant Professor & ** Director

School of Indic Studies, Institute of Advanced Sciences,
Dartmouth, USA

Abstract :

Today in the era of business oriented society, there is much discussion about management, leadership, strategy, planning, and other such things. Successful execution of all business strategies depends on its leader. When one considers leadership an image of a political leader or an executive comes to one's mind, but leadership is in facta practical skill encompassing the ability of an individual to lead or guide other individuals, a team, or an entire organization. In other words, leadership is an inspiring vision for mapping out a way for an objective. This inspiring vision includes management skills and direction to guide people to the right destinationin an efficient way.

In order to provide an effective and efficient leadership, an individual needs to connect with the world in such a way that he/she is able to see and be seen at individual levels. Such connection requires capacity of infinite visions within to resonate with all. *Bhagvadgitā* provides an eminent purpose of life as in self-realization (atmbodh) to lead one's life on the path of dharma in a detached manner for an effective, efficient, transformational action through individual leadership. The present paper highlights the idea of transformational leadership through a system called '*Prajā'*, where everyone is his/her own leader through self-reliance and independence. Transformational leadership is a process where "leaders

and their followers raise one another to higher levels of morality and motivation" (https://www.mindtools.com/pages/article/transformational-leadership.htm). This is possible with mutual support of individual leadership available through the Vedic *Prajā*-System.

In *Prajā* system, the whole human race is a'*Prajā'*, a notion of Vedic society as outlined in Black Yajurveda's *TaittirīyaSamhitā* verse 1.5.1.3. The etymological meaning of word '*Prajā*' is '*Pra*' (Prefix) means intense and '*Jan*' (root) means creative. Hence, each individual develops his/her own creativeness and unique leadership through skilled self-reliance and independence. This whole idea to make people their own masters is a new step in transformational leadership of the society, which can be implemented through transformational education available throughVedic pedagogy.

Keywords: Transformational leadership, Effective leadership, efficientleadership.

The present paper has three points to focus on, i.e., Leadership, Vedic *Prajā*-System and Transformation. To achieve or we can say one can lead to transformation only when one understands Vedic system of *Prajā* and its connection to leadership.

I

Leadership:

Today in the era of business oriented society, there is much discussion about management, leadership, strategy, planning, and other such things. Successful execution of all business strategies depends on its leader. When one thinks about leadership an image of a political leader or an executive officer comes to one's mind but actually leadership is a practical skill encompassing the ability of an individual to lead or guide other individuals, teams, or entire organizations. In other words, Leadership is an inspiring vision for mapping out a way for an objective. This inspiring vision includes management skills and direction to guide people to the right destination in an efficient way.

We are in such a millennium, where we have leaders in all sectors, be it a social, political, economic, academic, or others. But still there's lot more **problematic situations** around us as we are always in dilemma of 'who is who's boss', because everyone wants to lead but none of us behave

in our deedsin a detached way while leading. This is because there is ego and self-interest involved in such leadership that leads to envy, frustration, depression, impatience, rude-behaviour, etc. Therefore, in modern times it is prerequisite to look back to our own ancient scriptures to comprehend 'the art of leading'.

Leadership can broadly be characterized consisting of two components: Effective and Efficient. With a progressive approach, a leader should be effective and efficient in his/her deeds. But this will happen, if the leader is equipped with **creative skills** or he/she is being able to fetch best results by applying his/her knowledge through others. By this way even being a leader, the person himself is resolute enough to carry out the work, and also he/she is able to focus on individual's competence.

In order to provide an effective and efficient leadership, an individual needs to connect with the world in such a way that he/she is able to see and be seen at **individual level(s)**. Such a connection requires capacity of infinite visions within to resonate with all. *Bhagvadgitā* provides ample evidence of self-realization (*ātmabodh*) to lead one's life on the path of *dharma* in a detached manner for an effective and efficient action through individual leadership.

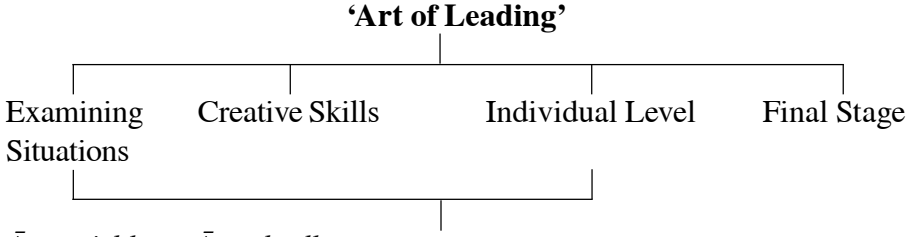

This whole process of leading or being a good leader is well discussed in Indian scriptures. Starting with how one can be neutral or unbiased in all kind of situations, it is well accepted approach that one should not work with selfish motives and try to become detached from outcomes and simply focus on doing his/her duty -

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।[1]

---

1. s*ukha-du*khe same kṛitvā lābhālābhau jayājayau/Bhagvadgitā 2.38

"Treating alike happiness and distress, loss and gain, victory and defeat. Fulfilling your responsibility in this way, you will never incur sin."

When there will be no selfish motives then there will be no greed. When there will no greed then there will be renunciation, this is expounded in *Iśavasyopaniṣad.*[1] One should always lead with a sense of sacrifice and renunciation. A few more interesting references to the quality of leadership have been mentioned by Lord Krishna to Arjuna (Bhagvadgitā 2.48, 14.24-25, 16.1-3 etc). If we carefully analyze them three interesting ideas emerge.[2]

- Strong need to lead by example
- Importance of developing a high degree of equanimity
- Understanding the principle of mutual dependence

After knowing the situations around us, the second level for being a good leader is to be aware of his/her creative talent that can lead to one's independence and freedom. To recognize creative skills, one should consider theVedic *Prajā*-System.

II

Vedic *Prajā*-System:

It is interesting to know that the word *'Prajā' appeared in*Vedic text namely *K ṣ ā* Yajurveda's *TaittirīyaSamhitā* -

तस्मान्मानव्यः प्रजा उच्यन्ते।[3]

This ideology continues to Upaniśadhic literature and developed as *'Eko' hamBahusyāmī'* i.e. "I [Brahma (ब्रह्म)] am one; may I become many". Thus, this whole world or human race is manifested from Brahma. Here Brahma is the ultimate reality or the eternal truth/knowledge or the universal power that pervades whole creation. In *Puruśasūkta* of *gveda*, Brahma is clearly stated as supreme and from Brahma classification of society into four *vara*s is listed -

---

1. *Tena tyaktena Bhunjeetbah*/Iśavasyopaniṣad 1
2. http://www.iimb.ac.in/sites/default/files Leadership%20Lessons%20from%20Gita.pdf
3. *Tasmānmānavya* prajāucyante Taittirīya Samhitā 1.5.1.3

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्ययद्वैश्यः पद्भ्याम् शूद्रोअजायत॥[1]

"It said that brahmin was born from the mouth, kaṣtriya from the shoulders, vaiśya from the thighs and śūdra from the feet of the creator."

Today the word '*Prajā*' is majorly used for the fourth *varṇa* i.e. *śūdra*. InVedic view *śūdra*s were born from the feet of Brahma. Symbolically feet represent the foundation. So, *śūdra*s are the foundation of the society. It can be elaborated as anyone who lays the foundation of the society is known as '*śūdra*'. Laying down the foundation means to build up. In other words, one who builds up the society by providing his/her services to the society is known as '*śūdra*'. In this sense, all the service providers of society such as teachers, doctors, engineers, environmentalists, musicians, painters, agriculturists, dancers, economists, writers, architects,etc. can be called *śūdra*s. With these service providers in a society, a nation builds up and sustains forever.

From above annotation, *śūdra*s i.e. '*Prajā*' are revealed as the creators of society. The etymological meaning of word '*Prajā*' is '*Pra*' (Prefix) means intense and '*Jan*' (root) means creative. The word '*Brahmā* (ब्रह्मा)' develops from Sanskrit root "*Bh*" which means "to grow" or "to expand". Though the term '*Brahmā*" does not appear in Vedas it is more prominently mentioned as deity of creation (one of the trinity) in the post-Vedic-texts and Puranic mythologies. Hence, sometimes Vedic god '*Prajāpati*' is identified as '*Brahmā*' - the creator {Brahma is the Puranic heir of Vedic *Hiranyagarbha*, and Brahmanic *Prajapati*}.[2] Because of this very similarity even in today's society 'the creators of society' i.e. '*Prajā*' address themselves as '*Prajāpati*'. Like '*Prajāpati*', Vedic god '*Vishwakarmā*' too is considered as the lord of creation. In modern era, since creative talents are perceived by '*Prajā*' people, so they relate themselves with above mentioned Vedic gods such as potters use '*Prajāpati*' and carpenters, blacksmiths, jewellers use '*Vishwakarmā*' in their surnames in recognition of their traits with '*Prajāpati*' and '*Vishwakarmā*'. Thus, there is no harm in calling '*Prajā*' people as lord of the society, as long as they possess the creative qualities.

---

1. *Brāhmaṇ* oasyamukhamās īdabāhūrājanya kṛtah/Ūrūtadasyayada-vaiśya padbhyā śūdroajāyata Ṛgveda 10.90.12
2. https://www.quora.com/What-is-the-difference-between-Brahma Brahman-and-Brahmin

It can be assumed that everyone born with capability to be a skilful person. The creativeness of each individual sometimes developed by his/her own, sometimes by inheritance of the family tradition,and sometimes one has to go to special school of training, such as engineering or medical colleges with specialized streams. Like in the present situation everyone cannot go to every school, in Vedic times there was a definite line of schools for each of the various streams of knowledge. There may have been two categories of centres of education during Vedic era. One was based more on theoretical-knowledge-creation-learning system where primarily intellectuals got admitted for deeper basic research. For skill development the vocational or practical training centre was the other choice for applied knowledge and development. In modern times these would be similar to basic fields like science, economics, etc. for basic knowledge and professional courses like engineering, medical, business, etc. for applied knowledge. In other words, one can say those doing a field job or practice skill or serve societyas skilful person is called as '*Prajā*'.

What and how does the Praja system provide a person his/her life's ultimate goal? A member of Praja is self-reliant due to his/her skills.[1] And, only a self-reliant person can be independent. Only an independent person can provide true leadership.

III

Transformation:

In the current society, we see leaders or persons in position having leadership attributes are either mainly focused on themself or the work allotted to them for their position. So, in that sense, they just work for the assignment, Even an Indian Administrative Service Officer acts as slave to implement certain fixed ways to manage people. In other words, we can say nowadays the job has become limited to following routine well-rehearsed line of action. No attention is paid to creative knowledge, as we have during Vedic era.

---

1. Singh, Bal Ram and Dhir, Aparna, *Adhunika Samajika Evam Rajnitika Vyavastha Ka Vedantic Samadhan*, *in* Akshar Warta, International Multidisciplinary Research Journal, Edited by Sharma, Shailendra Kumar and Bairagi, Mohan, Ujjain (M.P.), Vol.- XII, No.- VIII, May 2016, pp. 7-9, (ISSN 2349 - 7521)

For this above reason, out of many different styles of leadership such as Autocratic Leadership, Democratic Leadership, Strategic Leadership, Transformational Leadership, Team Leadership, Transactional Leadership, Visionary Leadership etc.

For transformational leadership, the only effective way is the education. Today, there is an urgent need of educating people for pursuing the creative knowledge. In other words, it is important to encourage youth for acquiring skills and applying his/her knowledge in a creative manner for which they have aptitude and inclination. That is the way for them to reach the pinnacle of their profession to achieve comprehensive satisfaction and happiness. Such individuals can provide transformational leadership using their own example of pursuit. In an ideal society everyone is a leader in his/her own way and thus will be able to collaborate and cooperate freely through their self-confidence originating from their own independence both at the material (financial) and mental (thoughts) levels. A person in such a society will be an example to others for not following anyone for to lead in some way the society to the benefit of all. Thus, Transformational Leadership characterized by support for collaboration and empowerment of individuals within a group to effect change.[1]

The question is how to achieve the independence for everyone in the society? We posit that such a situation can occur through the through Vedic *Prajā*-Systemwhere everyone is his/her own leader through self-reliance and independence. In Praja-System every individual is educated to be at the minimum self-reliant, which leads to one's independence at least for the material needs. That also allows individuals to pursue inner knowledge and self-realization. With mental and material freedom, a member of Praja-System is able to set an example for the society to follow to pursue their own freedom. As Transformational leadership is a process where "leaders and their followers raise one another to higher levels of morality and motivation".[2] Thatis possible only with mutual support of individual leadership available in Vedic *Prajā*-System.

In *Prajā* system, each individual develops his/her own creativeness and unique leadership through skilled self-reliance, self-sufficiency and independence. Every individual inevitably plays a leadership role through his own creative talent during Vedic era. It should be noted thatVedic

1. https://eric.ed.gov/?ti=Transformational+Leadership
2. https://www.mindtools.com/pages/article/transformational-leadership.htm

systemof *Prajā* proclaims people as individual independent leaders but with a sense of mutual-dependence, care, and respect:

परस्परं भावयन्तःश्रेयः परमअवाप्स्यथ।[1]

"By mutually making each other prosperous, you (one) will attain the highest good."

A leader with his/her sense of equanimity can bring transformation in the whole system.

आत्मौपम्येनसर्वत्रसमंपश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदिवादुःखंसयोगीपरमोमतः॥[2]

"One who sees true equality of all beings and responds to the joys and sorrows of others as if they were their own is considered a perfect yogi."

This will lead to unanimous approach of collective thoughts and all get united in a truly harmonious way.[3]

This whole idea to make people their own leaders is a new thinking in transformational leadership of the society, which can be implemented through transformational education available in Vedic pedagogy. Not only will this help out in reaching goal of equality and fairness but also stimulate corruption free market.

Conclusion

For sustainable leadership, there is a need to understand how leaders can be identified, created and nurtured. A major way to attain this is to synthesize ideas into creative talents that should be the objective of education in the current era. As we all are *Brahma* (ब्रह्म), there shouldn't be any discriminationon the basis that causes conflicts. Our education system should define the leadership as someone who exercises freedom and leads people who are free. Free because of their creative skills that is describedin Vedic *Prajā*-System. Then people work according to their free inclination and selflessness that allows transformation.

✦✦✦

1. *Paraspara* bhāvayanta śreya param avāpsyatha/Bhagvadgitā 3.11
2. *ātmaupamyena sarvatra sama* A paśhyati yo rjuna sukha vā yadi vā du kha sa yogī paramo mata/Bhagvadgitā 6.32
3. *Ṛgveda 10.191, Atharvaveda 3.3*

Equanimity Yoga

-Dr. Arun Kumar Manav

Eqanimity means, equality, balance, poise, levelheadedness, well balanced, aplomb, self & possession, self & control, restraint, self & confidence, self & assurance, centred, unwaveringness, un & ruffledness, serenity, tranquillity, calmness, placid, quietness-are many words that characterise a nature of mind, a style of looking at the world and its relation to the individual point of view through which one can establish one's relations. This establishment leads to a potential attitude of detachment towards outer world and inner world both. It is the non & attachment of the attitude which inculcates ultra - judiciousness. Broken moorings free and elate us to the higher altitude of vision.

Bhagvad Gita emphasizes so. It is one of the highest level of Lord Krishna's teaching that has been extended to the status of Yoga.

समत्वं योग उच्यते - 'Samatvum Yoga Uchyate' 2.48. Like Karma Yoga, it is well established Yoga. There are as many as 24 verses almost the same number that has been rendered to Karma Yoga. This itself speaks its significance. It is as difficult as any other Yoga perhaps more. Followings are the vesrses from Srimad Bhagvad Gita (English translation is from Sri Aurobindo) :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।2.14।।

The material touches, O son of Kunti, giving cold and heat, pleasure and pain, things transient which come and go, these learn to endure, O Bharata.

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।2.15।।

The Man whom these do not trouble nor pain O lion & hearted among men, the firm and wise who is equal in pleasure and suffering, makes himself apt for immortality.

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।2.38।।

Make grief and happiness, loss and gain, victory and defeat equal to thy soul and then turn to battle; so thou shalt not incur sin.

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।2.48।।

Fixed in Yoga do thy actions, having abandoned attachment, having become equal in failure and success; for it is equality that is meant by Yoga.

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।4.22।

He who is satisfied with whatever gain comes to him, who has passed beyond the dualities, is jealous of none, is equal in failure and success, he is not bound even when he acts.

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।5.18।।

Sages see with an equal eye the learned and cultured Brahmin, the cow, the elephant, the dog, the outcaste.

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।5.19।।

Even here on earth they have conquered the creation whose mind is established in equality; the equal Brahman is faultless, therefore they live in the Brahman

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।5.27।।

Having put outside of himself all outward touches and concentrated the vision between the eyebrows and made equal the prana and the apana moving within the nostrils.

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।6.7।।

When one has conquered one's self and attained to the calm of a perfect self & mastery and self & possession, then is the supreme self in a

man founded and poised (even in his outwardly conscious human being) in cold and heat, pleasure and pain as well as in honour and dishonour.

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥6.8॥

The Yogin, who is satisfied with self & knowledge, tranquil and selfpoised, master of his senses, regarding alike clod and stone and gold, is said to be in Yoga.

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥6.9॥

He who is equal in soul to friend and enemy and to neutral and indifferent, also to sinner and saint, he excels.

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥6.29॥

The man whose self is in Yoga, sees the self in all beings and all beings in the self, he is equal & visioned everywhere.

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं सः योगी परमो मतः॥6.32॥

He, O Arjuna, who sees with equality everything in the image of the self whether it be grief or it be happiness, him I hold to be the supreme Yogin.

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥9.29॥

I (the Eternal Inhabitant) am equal in all existences, none is dear to Me, none hated; yet those who turn to Me with love and devotion, they are in Me and I also in them.

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥12.13॥

He who has no egoism, no I & ness and my & ness, who has friendship and pity for all beings and hate for no living thing, who has a tranquil equality to pleasure and pain, and is patient and forgiving.

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥12.17॥

He who neither desires the pleasant and rejoices at its touch nor abhors the unpleasant and sorrows at its touch, who has abolished the distinction between fortunate and unfortunate happenings (because his devotion receives all things equally as good from the hands of his eternal Lover and Master), he is dear to Me.

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥12.18॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥12.19॥

Equal to friend and enemy, equal to honour and insult, pleasure and pain, praise and blame, grief and happiness, heat and cold (to all that troubles with opposite affections the normal nature), silent, content and well & satisfied with anything and everything, not attached to person or thing, place or home, firm in mind (because it is constantly seated in the highest self and fixed for ever on the one divine object of his love and adoration), that man is dear to Me.

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥13.10॥

Non & attachment, non & identification of the Self with son, wife, home and the rest, and constant even & mindedness on the attainment of the desirable and the undesirable.

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥13.28।

Seated equally in all beings, the supreme Lord, unperishing within the perishing - he who thus sees, he sees.

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥13.29॥

Perceiving the equal Lord as the spiritual inhabitant in all forces, in all things and in all beings, he does not injure himself (by casting his being into the hands of desire and passions), and thus he attains to the supreme status.

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥14.24॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥14.25॥

He who regards happiness and suffering alike, gold and mud and stone as of equal value, to whom the pleasant and the unpleasant, praise and blame, honour and insult, the faction of his friends and the faction of his enemies are equal things; who is steadfast in a wise imperturbable and immutable inner calm and quietude; who initiates no action (but leaves all works to be done by the gunas of Nature) - he is said to be above the gunas.

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥18.54॥

When one has become the Brahman, when one, serene in the Self, neither grieves nor desires, when one is equal to all beings, then one gets the supreme love and devotion to Me.

Equality is a tedious preeksha (test) and is a difficult experience that requires self discipline. So long desire is strong equality can not come. Inaction and fatigue may show false equality being inert and indifferent. Equality must be dynamic. High impartiality and indifference in depression and exultation, joy, pangs of grief, of thoughts and feelings are a must. Equality needs complete dissolution of ego and unreserved and total self & surrender. Renunciation of attachment to work and its fruits. Equality does not mean ignorance and blindness, greyness of vision and blotting out of all hues. Start with a period of endurance, learn to confront to suffer and assimilate all contacts. Pressure of God and assaults of Titans must be endured. High impartiality and indifference in depression and exultation, joy, pangs of grief of thought and feelings are to be practiced.

Equality is a sign of adoration. Lord is equally in all beings so we need not to make any distinction between us and others.

Equanimity is not a state of mind. It is a real disposition of the highest level. It is the eternal quality of Supreme power. Divine is equal to all. The pure self is equal, impartial in all events of the universe. Equality leads to unity. It is an element of spiritual perfection. Self perfecting aim in Yoga demands equality. A quiescent equality is not angry or troubled, impatient with the way things precipitate. Equality silences the mind. It keeps us in the middle,on the axis, away from deviations, at the core of infinite expansion of the vital, mental and spiritual in control, always a

seer, does not involve in manifestations nor sows or creates a seed for further actions.

Equality frees from turbulence of grief and joy, from tumult of emotions and passions, from bondages of likings and disliking, from desires and attachments from all sorts of narrowness and preferential opinions and judgments, from stamping of one's feelings and actions. Assailing touch of grief, wrath, hatred, fear, inequality of love, trouble of joy, pain of sorrow fall away from the equal heart. Heart is large, calm, equal, luminous and divine away from desires. A tangled strain of right and wrong, of useful and harmful, harmonious and disordered, reason and unreason, virtue and vice, honour and dishonour, noble and ignoble, things approved and disapproved, of self & approbation and dis & approbation of self & righteousness and disgust, remorse, shame and depression & with an equal eye. It is 'dynamic equality'.

The perfect equality of the thinning mind is in disposable and is the most difficult and most delicate, least practices by human mind. (Synthesis of Yoga by Shri Aurobindo).

The message of Equanimity is fundamental to the epic 'kāmāyanī' written by Hindi poet Jaishankar Prashad.

नित्य समरसता का अधिकार...	श्रद्धा सर्ग
समन्वय उसका करे...	श्रद्धा सर्ग
समरसता है सम्बन्ध बनी...	इड़ा सर्ग
सबकी समरसता का प्रचार...	दर्शन सर्ग
समरस अखंड आनंद...	दर्शन सर्ग
समरस थे जड़ या चेतन...	आनंद सर्ग

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Deemed to be University, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri Deemed to be University

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contect Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC CARE listed half yearly journal)
January-June 2020

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate from Brahma to Jaimini School of Vedic thoughts for removing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों की वैदिक विचारधारा को वेद विषयक भ्रान्तियों को दूर करने के लिए गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।